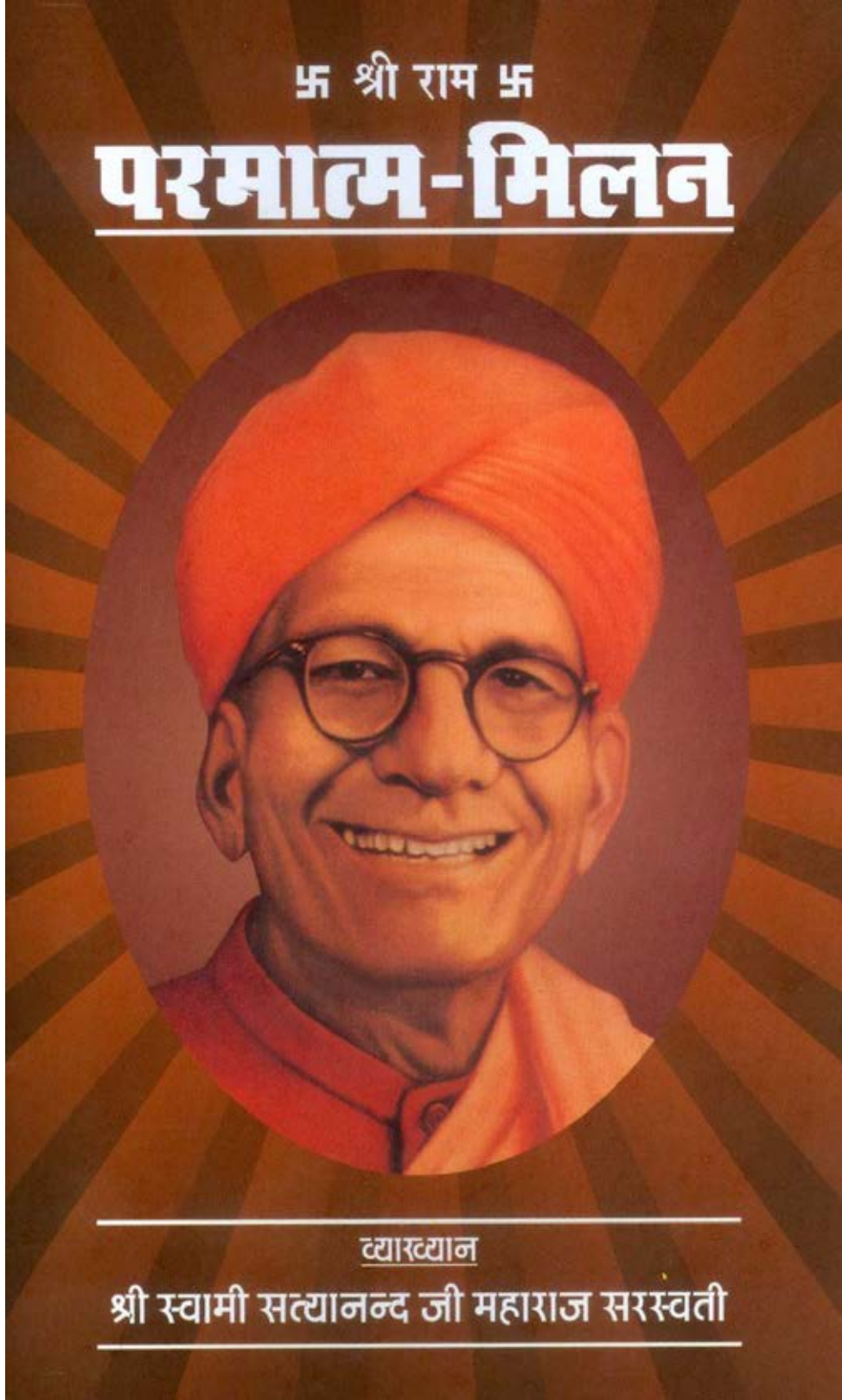


परमात्म-मिलन

Author: Shree Swami Satyanand Ji Maharaj

Shree Ram Sharnam, New Delhi



Shree Ram Sharnam, International Spiritual Centre, 8A, Ring Road, Lajpat Nagar - IV, New Delhi - 110 024, INDIA

www.shreeramsharnam.org

卐 श्री राम 卐

परमात्म-मिलन

व्याख्यान

श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज सरस्वती

* प्रकाशक :

श्री स्वामी सत्यानन्द धर्मार्थ ट्रस्ट
श्रीराम शरणम् , 8-A, रिंग रोड,
लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-110024

प्रथम संस्करण

चैत्र पूर्णिमा 22 अप्रैल, 2016

* सन् 2016 सम्वत् 2073

10,000 प्रतियाँ

ग्रन्थ-प्राप्ति-स्थान

श्रीराम शरणम्

8-A, रिंग रोड, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-110024

web.site: shreeramsharnam.org

E-mail address : shreeramsharnam@hotmail.com

परमात्म-मिलन

व्याख्यान

संत शिरोमणि, प्रातः स्मरणीय, पूज्यपाद
श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज सरस्वती

श्री स्वामी जी महाराज ने बड़ी ही सरल एवं मनोहारिणी शैली में इस व्याख्यान व लेख-संग्रह में ध्यान-योग साधना के विविध अंगों के रहस्य पर प्रकाश डालकर सामंजस्य स्थापित किया है। साधना-पथ के पथिक-जनों के लिए यह विवेचन अत्यन्त उपयोगी है, साथ ही श्रीरामशरणम् की शुद्ध विचारधारा के प्रचार-कार्य में भी सहायक रहेगा।

प्रस्तुत संकलन सन् 1925 के पूर्व का है और इसे आंशिक संशोधन तथा परिवर्द्धन करके प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तक से साधकों को अध्यात्म ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान की प्रेरणा प्राप्त होगी एवं उनका ज्ञानवर्द्धन भी होगा।

इस विषय का विस्तृत ज्ञान का वर्णन वृहद् रूप में श्री स्वामी जी महाराज ने अपने मौलिक एवं अनुपम ग्रंथ 'भक्तिप्रकाश' में बड़ी ही सरल तथा सुबोध हिन्दी भाषा में किया गया है। यह अवतरित ग्रंथ पूर्ण आध्यात्मिक है। इसका पठन, मनन व चिंतन कर और उसे आचरण में उतार कर अपने जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है।

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ क्रमांक
1. भक्तियोग	05
2. कर्मयोग	46
3. ज्ञानयोग	56
4. राजयोग	66
5. परमात्म-मिलन	74

अतिशय मंगल स्वरूपाय, परम कल्याण कारिणे ।

सर्व शक्तिमद्देवाय, श्री रामाय नमो नमः ॥

[श्री प्रवचन-पीयूष से]

सर्वाधार ओंकार जो, निराकार बिन पार ।

उसे राम श्रीराम कह, नमूँ सदा बहु बार ॥

मन्त्र धारणा यों कर, विधि से ले कर नाम ।

जपिये निश्चय अचल से, शक्ति-धाम श्री राम ॥

परमात्मा को पूजिये, घट में धर कर ध्यान ।

मन को मंदिर मानिये, जो है परम महान ॥

आशीर्वाद भगवान का, माँगे विनती साथ ।

औषध उसका नाम है, वैद्य आप जगनाथ ॥

[श्री भक्तिप्रकाश से]

1

भक्ति-योग

भगवान का आह्वान!

हे सर्वाधार ! हे सर्वेश्वर ! हे सर्वत्र परिपूर्ण परब्रह्म परमेश्वर ! हम आपको नमन करते हैं। प्रभो! इस संसार में सर्व प्राणिमात्र सुख की प्रार्थना करते हैं। प्रत्येक प्राणी दुःख से भयभीत होता है और भागता है, कोई नहीं चाहता कि उसे भय प्राप्त हो। वेदों में भी अभय की प्राप्ति के लिए प्रार्थना आई है, अतः हम भी आपका आराधन करते हुए अभय-प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। प्रभो! हमारा निश्चय है कि आपकी मंगलकामना संसार को मंगलमय बनाती है। हम सब आपके समीप उपस्थित होकर आह्वान करते हैं कि आप हमको मंगल प्रदान कीजिये।

यह संसार अशान्ति से भरपूर है, चारों ओर अशान्ति ही अशान्ति विस्तृत हो रही है। मनुष्य अशान्ति से निकलने के लिए नाना प्रकार के यत्न कर रहा है, परन्तु जब तक वह शान्ति के भण्डार परमात्मा की प्राप्ति के लिए यत्न नहीं करता, तब तक उसके सर्व यत्न निष्फल जाते हैं और वह कदापि शान्ति-लाभ नहीं कर सकता। प्रश्न यह है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए क्या-क्या साधन हैं ?

भक्ति क्या है ?

सब से प्रथम इस बात को जानने की आवश्यकता है कि भक्ति क्या है ? भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है। इसके अर्थ हैं— किसी वस्तु की पूजा करना, किसी पदार्थ की सेवा करना। इसी प्रकार योग शब्द 'यज्' धातु से बना है। योग के अर्थ हैं— समाधि, अर्थात् अपने आपको भूल

जाना, या दूसरे के ध्यान में लीन हो जाना। ऐसी लीनता कि उसको अस्तित्व की सुध भी न रहे। ईश्वर-प्राप्ति के लिए सबसे पहली और आवश्यक बात भक्ति है। भक्ति के बिना संसार में कुछ नहीं हो सकता। हमारे सर्वसम्बन्ध केवल भक्ति के द्वारा ही स्थिर हैं। भक्ति प्रेम का दूसरा नाम है। यदि भक्ति न हो तो पिता और पुत्र में जो परस्पर प्रेम का मीठा बन्धन है, वह टूट जाय। कितने ही पुत्र अपने पिता का घात करते देखे जाते हैं। कितने ही पुत्र माताओं को दुःखी करते पाये जाते हैं। इस दुःख की जड़ में प्रेम अर्थात् भक्ति का ही अभाव है। हमारे गृहस्थ की वर्तमान दुर्दशा क्यों है, हमारे गृहों में स्त्री जाति क्यों दुःखित हो रही है, पति और पत्नी में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष क्यों है और गृहस्थाश्रम जो कि सुख देने वाला माना गया है दुःख का कारण क्यों बन रहा है ? केवल इसीलिए कि जहाँ पर भक्ति के सुगन्धित पुष्प विराजमान नहीं, किन्तु इसके विपरीत ईर्ष्या-द्वेष के काँटे बिखर रहे हैं। यदि राजा का राज्य स्थिर है तो केवल भक्ति के द्वारा ही। राजभक्ति के बिना संसार में कोई शासन स्थिर नहीं रह सकता। देश में जो अशान्ति है इसका कारण राष्ट्रभक्ति या स्वदेश प्रेम की न्यूनता ही है। प्रजा के मन में राजा के लिए प्रेम हो, राजा के मन में प्रजा के लिए प्रेम हो, दोनों में परस्पर भक्ति के सूत्र दृढ़ हों, तब ही देश में राजा और प्रजा सुखी हो सकते हैं।

जब एक छोटे से सांसारिक सुख को प्राप्त करने के लिए भी भक्ति अर्थात् प्रेम की आवश्यकता है तो विचार करना चाहिए कि शान्ति के भण्डार परमात्मा को प्राप्त करने के लिए कितनी अटूट भक्ति की आवश्यकता हो सकती है। आजकल लोगों को यह कहते हुए सुना जाता है कि यह तो सत्य है कि भक्ति के बिना परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती परन्तु तुम जो वेदों की दुहाई देते हो उनमें भक्ति का उपदेश कहाँ है ? भक्ति का उपदेश यदि मिलता है तो वह केवल सन्तों की वाणी में ही मिलता है।

वेदों में ईश्वर-भक्ति

परन्तु विचारने से पता लगता है कि वेदों में ईश्वर-भक्ति के विषय में जो मंत्र विद्यमान हैं वे इतने सारगर्भित और रस से भरे हुए हैं कि उनसे बढ़कर भक्ति का दृश्य अन्यत्र मिलना ही कठिन है। वेद भगवान कहते हैं—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (यजुर्वेद २५-१२)

पहाड़ अपने सिर को हिम की सफेद चादर से ढँके हुए परमात्मा की भक्ति कर रहे हैं जैसे समाधि की अवस्था में ईश्वरभक्त बिलकुल चुपचाप अपनी इन्द्रियों का निरोध किये हुए जड़ वस्तु की न्याई ईश्वर के ध्यान में लीन हो जाता है, वैसे ही पर्वत अपनी दृढ़ता के साथ इसी भक्ति में लीन हैं। पर्वतों को इस दृढ़ता के लिए दृष्टान्त रूप में लिया जाता है। जैसे अनेक बार ईश्वरभक्तों के हृदय ईश्वर-प्रेम में व्याकुल होकर प्रेम के अश्रु बहाते देखे जाते हैं, इसी प्रकार पर्वतों के अन्दर से जो नदियाँ चल रही हैं वह मानो इस बात का परिचय दे रही हैं कि पर्वतों के हृदय में ईश्वर-प्रेम भर रहा है और यही प्रेम की धारा नदियों के रूप में बह कर समुद्र यात्रा कर रही है। वेद भगवान कहते हैं कि समुद्र भी उसी की भक्ति के गीत गा रहे हैं—

हे विराट! हे विश्वदेव! तुम कुछ हो, ऐसा होता भान।

धीर गंभीर शान्त स्वर सं युत, यही कर रहा सागर गान॥

जैसे ईश्वरभक्त का हृदय परमात्मा के अगाध प्रेम से आप्लावित (तृप्त) होकर गद्गद् होता है और इसमें ईश्वर-प्रेम की नाना प्रकार की तरंगें उठती हैं, ठीक इसी प्रकार इसी परमात्मा के प्रेम अर्थात् आकर्षणशक्ति के द्वारा जो इसने समुद्र के हृदय में डाल रखी है समुद्र में लहरें पैदा होती हैं समुद्र का जल ऊपर उठता है, इससे ज्वारभाटा उत्पन्न होता है, जैसे मनुष्य ईश्वर-प्रेम से मस्त होकर अपने अस्तित्व को भूल जाता है और अनेक बार देह-भान से बाहर जाकर लहरें लेने लग जाता है और समझने लगता है कि वह केवल शरीर ही नहीं है प्रत्युत् उसकी

सीमा शरीर से बाहर तक फैली हुई है, ठीक इसी प्रकार इसी ईश्वर-प्रेम में मग्न होकर समुद्र में जब ज्वारभाटा आता है तो वह अपनी सीमा को भी उल्लंघन कर जाता है और इसका जल दूर तक फैल जाता है।

समुद्र और चन्द्रमा के मध्य जो प्रेम है, आकर्षण-शक्ति है वह कहाँ से आयी? यह प्रेम समुद्र के हृदय में किसने उत्पन्न किया है? क्योंकि पूर्णिमा की शक्ति से समुद्र का हृदय चन्द्रमा की ओर अधिक आकर्षित होता है इसलिये कि समुद्र ज्योतिर्मय चंद्रमा के मुख को पूर्णरूप से साक्षात् देखता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वरभक्त जब परमात्मा के साक्षात् दर्शन करता है तो उसका हृदय गद्गद् होकर उसकी ओर आकर्षित होता है। इस समय इस ईश्वरभक्त के लिए परमात्मा के दर्शन से बढ़कर कोई भी वस्तु अधिक प्यारी नहीं रहती। फिर आगे चलकर वेद भगवान कहते हैं कि दिशाएँ अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, नीचे, ऊपर क्या वस्तु हैं? ये एक प्रकार के चिन्ह हैं जो ईश्वर की सर्व व्यापकता को चारों ओर दर्शा रहे हैं। जैसे ईश्वरभक्त, ईश्वर के प्रेम में मुग्ध होकर सर्व दिशाओं में उसी का रूप देखता है अर्थात् सब में उसी को देखता है और सब को उसी में देखता है, ठीक इसी प्रकार वेद भगवान कहते हैं कि दिशाएँ सब ओर उसी के प्रेम का दृश्य दिखा रही हैं और उसी के अस्तित्व का प्रमाण दे रही हैं। वेद भगवान कहते हैं कि ईश्वर जिसकी महिमा ये सम्पूर्ण पदार्थ गा रहे हैं उसकी भक्ति करके हम दुःखों से मुक्ति पा सकते हैं। इसी प्रकार आगे चलकर वेद भगवान कहते हैं—

यं क्रन्दसीऽअवसा तस्तभाने, अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।

यत्राधिसूर उदितो विभाति, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (यजुर्वेद ३२-७)

यह प्रकाश देने वाला सूर्य और प्रकाश लेने वाली पृथ्वी इसी प्रकार नाना प्रकार के अन्य सूर्यमण्डल जो अपने-अपने स्थानों पर स्थिर हैं ये किसकी शक्ति से स्थिर हैं? वेद भगवान कहते हैं कि ये सब परमात्मा की ही शक्ति से अपने-अपने स्थान पर स्थिर हैं। यदि उसकी शक्ति विराजमान् न हो तो वे सब आपस में टकराकर छिन्न-भिन्न हो जावें। नास्तिकों का कथन है कि परमात्मा नहीं है, यह संसार सदा से ऐसा ही

चला आता है और सदैव, ऐसा ही रहेगा, इसका कर्ता कोई नहीं। परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह इतनी बड़ी कल जो चल रही है, क्या वह स्वयं चल रही है? हम देखते हैं कि मनुष्य छोटा सा यन्त्र बनाता है और अपनी ओर से तो वह इसके सब अंग ठीक-ठीक बनाता है, किन्तु फिर भी वह बिगड़ता है। दूर क्यों जाते हो, घड़ी का दृष्टांत ही ले लीजिये। मनुष्य ने अपनी बुद्धिमता से समय को जानने के लिए परमात्मा की बनाई हुई घड़ी अर्थात् सूर्य की गति की नकल तो की परन्तु हम देखते हैं कि जितनी भी यहाँ पर घड़ियाँ हैं उन सब में कुछ न कुछ समय का भेद अवश्य होता है। परन्तु परमात्मा की शक्ति से सूर्यमण्डल की जो घड़ी चल रही है, उसमें कदापि अन्तर नहीं आता और न इसको चाबी की, न तेल की, न बत्ती की और न ही कमान की आवश्यकता है।

इससे सिद्ध होता कि जिस शक्ति ने इस सर्व ब्रह्माण्ड को रच कर एक नियम में बाँध रखा है वह अति महान और चैतन्य शक्ति है। इस महाप्रभु की कीर्ति यह सकल ब्रह्माण्ड गा रहा है। पृथ्वी अपने नम्रभाव से इसके चरणों में नत है, सूर्य अपने तेजोमय रूप से इसकी महानता को प्रकट कर रहा है, चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से इसी सौम्य परमेश्वर की कीर्ति गा रहा है।

उपनिषद् में आता है कि पृथ्वी ध्यान रूप से परमात्मा की भक्ति कर रही है, सूर्य ध्यान रूप से परमात्मा को अपना कर्ता, धर्ता, हर्ता बता रहा है, यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ध्यान रूप से इसकी भक्ति में लगा हुआ है। नदी, नाले इसकी महिमा गाते हुए बहते चले जा रहे हैं, समुद्र की लहरें इसकी महिमा के गीत गा रही हैं, जल-जन्तु इसकी महिमा गा रहे हैं। वेद भगवान कहते हैं कि मनुष्य के लिए यदि कोई उपास्य देव है तो वह केवल एक सर्वशक्तिमान् परब्रह्म सच्चिदानन्द परमात्मा है। इसकी भक्ति और इसके प्रेम में मग्न होकर मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकता है।

हम किसकी भक्ति करें ?

परन्तु यहाँ पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम परमात्मा की भक्ति क्यों करें ? ईश्वर-भक्ति की हमें क्या आवश्यकता है ? हम जड़-पदार्थों अथवा अल्प मनुष्यों की भक्ति क्यों न करें ? ईश्वर की भक्ति से हमें क्या लाभ हो सकता है ? यह प्रश्न वास्तव में बड़ा गम्भीर तथा विचारणीय है।

शास्त्र कहते हैं कि जो जिसकी भक्ति करता है, वह तद्रूप होता जाता है। जो जिसका चिंतन करता है वह उसी के रंग में रंगा जाता है, जो जिसका अधिक ध्यान करता है वह उसी का स्वभाव ग्रहण करता जाता है। जैसे लोहे का गोला अधिक काल तक अग्नि में रखे रहने से पहले गर्म और फिर गर्म से लाल और फिर लाल से तद्रूप अर्थात् अग्नि का रूप ग्रहण करता जाता है, इसी प्रकार जो मनुष्य जिस वस्तु का अधिक ध्यान करता है वह उसी के रंग में रंगा जाता है।

यदि हम मनुष्यों की भक्ति करते हैं तो इसमें सन्देह नहीं कि हम में उन उपास्य देवताओं के ही गुण आवेंगे। क्योंकि मनुष्य सारे के सारे अल्पज्ञानी होते हैं, उनमें दुर्बलताएँ होती हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि मनुष्यों की पूजा और भक्ति करने से जहाँ हम उनके गुणों को ग्रहण करते हैं वहाँ अवगुण भी हम में आ जाते हैं। जड़-पदार्थों की पूजा करने से मनुष्य के अन्तरीय सूक्ष्म विचारों का नाश हो जाता है और वह जड़ की न्याई जड़ बन जाता है। इसलिए वेद भगवान कहते हैं—

‘अन्धं तमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते’ (यजुर्वेद ४०-९)

कई मनुष्य जो जड़-पदार्थों की पूजा करते हैं उनका हृदय जड़-पदार्थों के समान प्रकाश-शून्य हो जाता है और वे अन्धकार में ठोकरें खाते फिरते हैं। इसलिए पूजा का परिणाम यही है कि मनुष्य जिसकी पूजा करता है वह उसके रंग में रंगा जाता है। यदि जड़-पदार्थों की पूजा करने से मनुष्य को शान्ति मिल सकती तो इस संसार में जो सर्वाधिक जड़-पदार्थों की पूजा करते हैं अर्थात् जो सबसे अधिक धनी हैं, वे कदापि दुःखी न देखे जाते।

11

वेद में भक्ति

परन्तु चूँकि जड़-पदार्थ प्रकाश-शून्य हैं और शक्ति-शून्य हैं, अतः उनकी पूजा तथा भक्ति करने से मनुष्य को शान्ति क्योंकर मिल सकती है? पूजा के लिए आवश्यकता है एक महाशक्ति की। भक्ति के लिए आवश्यकता है एक सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् पाप-नाशक शान्ति के भण्डार परमात्मा की, भक्ति के लिए आवश्यकता है एक शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव सच्चिदानन्द की। वेद भगवान कहते हैं—

‘सपर्यगाच्छुक्रमकायमत्रणमस्नाविरँ, शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूयार्थात्तथ्यतोऽर्थान्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।’

(यजुर्वेद ४०-८)

परमात्मा शुक्र अर्थात् आनन्द है, वह दुःख आदि क्लेशों से रहित है, दुःख का नाशक है, सुख का दाता है, वह निराकार है, वह ‘अव्रण’ अर्थात् रोग-रहित है, वह ‘अस्नाविर’ अर्थात् नस नाड़ी के बन्धनों से मुक्त है; उसकी कोई मूर्ति नहीं है, वह शुद्ध पवित्र है और पवित्र कर्ता है, वह ‘पापाबिद्ध’ अर्थात् पाप-रहित और मनुष्य को पापों से मुक्ति देने वाला है। वह कवि अर्थात् अन्तर्यामी है, वह मनीषी अर्थात् मनुष्यों के मनों को देखने वाला है, वह परिभूः अर्थात् सर्वव्यापक है, वह स्वयंभूः अर्थात् अपनी सत्यता में उपस्थित है, वही इस सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता है। वेद भगवान कहते हैं कि ऐसे ही परमात्मा की भक्ति और पूजा करके मनुष्य का जीवन सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह एक साधारण नियम है कि एक महा शक्तिमान की पूजा मनुष्य को स्वाभाविक रूप से शक्तिमान् बनाती है। जिस मात्रा में हम इस सर्वशक्तिमान् की पूजा करते हैं और हृदय से पूजा करते हैं अथवा प्रेम से भक्ति करते हैं उसी मात्रा में हमारा आत्मा बलवान् होता जाता है और पुष्ट होता जाता है। वेद भगवान कहते हैं—

‘य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।

यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।’

(यजुर्वेद २५-१३)

12

आत्मा का बल वही परमात्मा है। ऐसा क्यों है, इसलिए कि आत्मा एक चेतन वस्तु है, आत्मा जीवन है। एक चेतन वस्तु को जड़-वस्तु से बल नहीं मिला करता। जड़ पदार्थों की पूजा से आत्मा को कदापि बल प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत् चेतन परमात्मा से ही बल मिल सकता है। क्योंकि यह ईश्वरीय नियम है कि जहाँ जीवन होता है वहाँ से ही दूसरों को जीवन मिला करता है, जहाँ शक्ति होती है वहाँ से ही दूसरों को शक्ति मिला करती है। जड़-पदार्थों में जब जीवन ही नहीं है तो उनकी पूजा करके एक चेतन आत्मा कैसे जीवन पा सकता है ? इसको क्या बल या ढाँढस मिल सकता है ? कुछ भी नहीं। इसलिए वेद भगवान कहते हैं कि भक्ति के योग्य केवल एक परमात्मा ही है। अज्ञानी अज्ञानता के वश होकर जड़-पदार्थों की पूजा करते हैं परन्तु वे जो ज्ञानी हैं, वे जो देवता हैं, वे जिनका हृदय ज्ञान से दीप्यमान है, वे कदापि जड़-वस्तुओं की पूजा नहीं कर सकते, किन्तु वे रात-दिन उसी परम पूज्य परमात्मा की भक्ति में मग्न रहते हैं। वेद भगवान कहते हैं कि उसकी भक्ति में मग्न रहना मनुष्य को मृत्यु (दुखों) से बचा सकता है।

मृत्यु-रहस्य

मृत्यु क्या है ? साधारण शब्दों में हम आत्मा से शरीर की पृथक्ता का नाम 'मृत्यु' रखते हैं। यदि यह सत्य है कि आत्मा की पृथक्ता से शरीर की मृत्यु हो जाती है तो जब परमात्मा आत्मा के भी आत्मा हैं और वह आत्मा में इस प्रकार निवास करते हैं जिस प्रकार शरीर में आत्मा निवास करता है तो वह आत्मा चेतन होता हुआ भी मृत समान क्यों नहीं होगा, जिसमें ईश्वर-प्रेम नहीं है ? ईश्वर ही तो आत्मा का जीवन है। उपनिषद् कहता है—

‘श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स प्राणस्य प्राणः’ ॥

(केनोपनिषद् १-२)

परमात्मा ही आत्मा के स्रोत का स्रोत है, परमात्मा ही आत्मा के मन का मन है, परमात्मा ही आत्मा की वाक्-शक्ति है परमात्मा ही आत्मा का प्राणाधार है। इसलिए वेद भगवान कहते हैं—

‘यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः’

अर्थात् परमात्मा को अपने आत्मा में अनुभव करना और उसी को हर्ता-कर्ता अनुभव करते हुए रात-दिन उसी की शरण में और उसी की भक्ति में अपने आपको लीन रखना ही आत्मा का जीवन है और उससे दूर जाना अर्थात् उसकी भक्ति से शून्य हो जाना, उसके प्रेम से रिक्त हो जाना मानो आत्मा से आत्मा का शून्य हो जाना है। इस आत्मिक मृत्यु से मनुष्य उसी अवस्था में बच सकता है जब कि वह अमर परमात्मा को प्राप्त हो। मनुष्य जो कि स्वयं मृत्यु के मुख में फँसा हुआ है उसकी पूजा करने से आत्मा इस आत्मिक मृत्यु से नहीं बच सकता। जड़-पदार्थ जो कि स्वयं शून्य हैं, उनकी पूजा करने से भी आत्मा आत्मिक मृत्यु से नहीं बच सकता। आत्मा का जीवन परमात्मा है, उसी की भक्ति करने से, उसी की शरण लेने से, उसी के प्रेम में मग्न होने से, आत्मा जीवन पा सकता है, मुक्त हो सकता है। उपनिषद् कहता है—

‘एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥’ (कठोपनिषद् २।१७)

परमात्मा ही एक मात्र आत्मा का आधार है और परमात्मा ही आत्मा के लिए सब से श्रेष्ठ और परम पवित्र आहार है, परमात्मा ही आत्मा के लिए शरण्य है, वही इसके लिए मृत्यु के विरुद्ध एक सुरक्षित ढाल है जो इस आधार को अपना आधार बनाता है, जो आत्मा इस आहार को अपना आहार बनाता है, जो इसको अपने आत्मा के लिए मृत्यु के विरुद्ध बनाता है, वही है जो मृत्यु से ऊपर हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है या दूसरे शब्दों में मुक्ति को प्राप्त होता है। मैंने कहा था कि लोग प्रश्न करते हैं ईश्वर-भक्ति की क्या आवश्यकता है? यह अब ज्ञात हो गया कि यदि हम जड़-पदार्थों की भक्ति करते हैं तो हम जड़ की न्याई विचार-शून्य, उत्साह-शून्य हो जाते हैं। यदि हम परमात्मा की भक्ति करते हैं तो हम में जीवन आता है, उत्साह आता है, तेज आता है, बल और पराक्रम आता है क्योंकि यह एक साधारण बात है कि जितना हम अल्प वस्तुओं की भक्ति करेंगे उतना ही हमारा विचार, हमारा जीवन,

हमारा तेज, हमारा बल भी अल्प होगा परन्तु जिस मात्रा में एक महान और प्रभावशाली जीवन के आधार, आत्मा के आहार, सर्वशक्तिमान् तेजोमय प्रभु की पूजा करेंगे उसी मात्रा में हम महान होते जावेंगे। अपने ज्ञान के भण्डार वेद में ईश्वर हमें शिक्षा देते हैं कि हे मनुष्यो ! जड़-पदार्थों की पूजा छोड़ कर नित्य प्रति तुम यह प्रार्थना किया करो—

‘तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।

बलमसि बलं मयि धेहि ओजोऽस्योजो मयि धेहि।

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि।’

(यजुर्वेद १२-९)

अर्थात् हे परमात्मन् ! मैं तेरी भक्ति इसलिए करता हूँ, क्योंकि तू तेज है, तेरी भक्ति द्वारा तेरे तेज को प्राप्त कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं तेरी भक्ति इसलिए करता हूँ कि तू शक्ति है, मैं तेरी भक्ति के द्वारा इस शक्ति को प्राप्त कर सकूँ। हे परमात्मन् ! मैं तेरी भक्ति इसलिए करता हूँ क्योंकि तू बलपुंज है, मैं तेरी भक्ति के द्वारा इस बल को प्राप्त कर सकूँ। हे प्रभु ! मैं तेरी भक्ति इसलिए करता हूँ क्योंकि तू जीवनाधार है, मैं तेरी भक्ति के द्वारा इस आधार को प्राप्त कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं तेरी भक्ति इसलिए करता हूँ क्योंकि तू सहनशील है, मैं तेरी भक्ति के द्वारा सहनशील बन सकूँ। हे परमात्मन् ! मैं तेरी भक्ति इसलिए करता हूँ क्योंकि तू सबको यथावत् फल देने वाला है, मैं तेरी भक्ति के द्वारा इस न्यायशीलता को ग्रहण कर सकूँ, इत्यादि।

ब्रह्म सम्बन्ध की आवश्यकता

हमें इस बात का तो पता लग गया कि भक्ति क्या वस्तु है और भक्ति की क्या और क्यों आवश्यकता है और ईश्वर-भक्ति की किसलिए आवश्यकता है ? अब हमारे सामने दूसरी अवस्था आती है। वह यह है कि हम ईश्वर-भक्ति कैसे कर सकते हैं ? लोग कहते हैं कि हम नित्य प्रति ध्यान करते हैं, परन्तु ध्यान में हमारा चित्त नहीं लगता, हम प्राणायाम करते हैं, परन्तु मन एकाग्र नहीं होता। हम प्रार्थना करते हैं, पर शान्ति नहीं मिलती। हम पाठ करते हैं, किन्तु हाथ पल्ले कुछ नहीं पड़ता।

उनका यह कहना ठीक ही है क्योंकि जब तक यह पता न हो कि भक्ति की विधि क्या है, अथवा वे कौन से साधन हैं कि जिनके करने से अच्छा परिणाम निकल सकता है, तब तक केवल किसी क्रियामात्र से कुछ भी हाथ पल्ले नहीं पड़ सकता। जो बिना विधि के ईश्वर-पूजा करते हैं, जो भक्ति और प्रेम की शर्तों को पूरा करने के बिना ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं, वह कोल्हू के बैल की न्याईं हैं, जो रात-दिन एक ही चक्र में घूमता रहता है। बैल समझता है कि आज मैं बहुत चला और शायद सैकड़ों मील की दूरी पर आ गया हूँ परन्तु जब आँख पर से पट्टी खुलती है तब वह बेचारा अपने आपको उसी स्थान पर देखता है जहाँ वह प्रातःकाल खड़ा था। यही दशा हमारी ध्यान की है।

यही स्थिति पाठ और जप की है। जब तक विधि और नियमानुसार कोई काम न किया, तब तक हम कितने ही घण्टे क्यों न आँखें बन्द किये बैठे रहें, परन्तु कोल्हू के बैल की न्याईं हमारे जीवन की गति उसी स्थान पर रहेगी। आँखें बन्द करके कुछ काल बैठ जाना भक्ति या उपासना नहीं है। बगुला भी तो पानी के किनारे पर आँखें बन्द किये व टाँग उठाये हुए घंटों तक खड़ा रहता है। मछली पकड़ने वाला घंटों तक पानी के किनारे टकटकी लगाये साधु बना बैठा रहता है, परन्तु केवल टकटकी लगा लेने से, आँखें बन्द करके बैठ जाने से ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती। ईश्वर-प्राप्ति के लिए भक्ति की आवश्यकता है और भक्ति की पहली अनिवार्यता 'ब्रह्म सम्बन्ध' है। जब तक ब्रह्म के साथ आत्मा अपने सम्बन्ध को अनुभव नहीं करता, तब तक वह ब्रह्मयज्ञ कैसे कर सकता है? जब तक पिता और पुत्र के सम्बन्ध का निश्चय न हो, तब तक पितृभक्ति कैसे हो सकती है? जब तक राजा और प्रजा में कोई सम्बन्ध न हो, तब तक राजभक्ति कैसे हो सकती है? जब तक स्त्री और पुरुष एक दूसरे के साथ अपने सम्बन्ध को अनुभव नहीं करते, तब तक उनमें पति और पत्नी-भक्ति का उदय कैसे हो सकता है और गृहस्थ-आश्रम क्योंकर आनन्द भवन बन सकता है? संसार में जितना अधिक क्लेश है, जितना अधिक दुःख है, हमारे आस-पास जितना अधिक हाहाकार है, जितनी चीख

16

पुकार है वह केवल परस्पर के सम्बन्धों में अनमेल के कारण है। सम्बन्ध तो है परन्तु यह ज्ञात नहीं है कि सम्बन्ध क्यों है और कैसे है? इसलिये दुःख होता है। जिस राजा के आधीन हमारे जान-माल सुरक्षित हों, जिस राजा के अधीन हम स्वतंत्रता से अपने धर्म, कार्यों को कर रहे हों, शास्त्र आज्ञा देते हैं कि उसके लिए प्रजा के चित्त में राजभक्ति हो। तब जिस महान प्रभु के आश्रय समस्त ब्रह्माण्ड के राजा और प्रजा सुरक्षित अपने-अपने कार्यों को कर रहे हों उस महान प्रभु की भक्ति करने से, जैसा कि मैंने पहले कहा है आत्मा आत्मिक मृत्यु से ऊपर हो जाता है। उस महान प्रभु के साथ 'ब्रह्म सम्बन्ध' को जोड़ने की अत्यधिक आवश्यकता है।

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध

यह 'ब्रह्म-सम्बन्ध' क्या है? इसको उपनिषद् इस प्रकार वर्णन करता है—

‘यथेमां नद्यः स्यन्दमाना; समुद्रायणाः समुद्रं

प्राप्याऽस्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे समुद्र इत्येव प्रोच्यते।’

(प्रश्नोपनिषद् ६।५)

अर्थात् जैसे नदी का सम्बन्ध सागर से है, इसी प्रकार आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से है। नाना प्रकार की नदियाँ रात-दिन पर्वतों के शिखर से घने जंगलों और उजाड़ बियावानों के अन्दर से प्रेम और भक्ति का गीत गाती हुई अपने नाम और रूप को छोड़कर प्रेमसागर में जाकर लीन हो रही हैं। सागर क्या है? वेद में परमात्मा को सागर कहा गया है, इस आध्यात्मिक सागर के साथ हमारा वही सम्बन्ध है जो नदी का बाह्यिक सागर के साथ है। तात्पर्य यह है कि जैसे पर्वतों के शिखर पर से निकली हुई नदी समस्त पहाड़ों और घाटियों को चीरती हुई मैदानों और बियावानों को तय करती हुई उस समय तक आराम नहीं लेती, जब तक कि वह सागर में जाकर लीन नहीं हो जाती, ठीक ऐसे ही ईश्वर-भक्ति-परायण सच्चे भक्तों की दशा है। जब वे समझ लेते हैं कि भक्ति क्या चीज है और ईश्वर के साथ इनका क्या सम्बन्ध है? तो वे सम्बन्ध को सार्थक करने के लिए और ईश्वर में अपने आत्मा का आधार और

आनन्द पाने के लिए उस समय तक बराबर यत्न किये जाते हैं जब तक वे इसको प्राप्त नहीं कर लेते। उनके मार्ग में बाधाये आती हैं, विघ्न पड़ते हैं, कठिन पहाड़ चीरने पड़ते हैं, संसार की वस्तुओं में फंसी हुई इन्द्रियों को दमन करना पड़ता है, लोहे के चने चबाने पड़ते हैं परन्तु वे, यह सब कुछ किये जाते हैं यहाँ तक कि वे, ब्रह्म में स्थिर हो जाते हैं और उनकी यह अवस्था—

तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम् (योग) के अनुसार हो जाती है। वह इस 'ब्रह्म सम्बन्ध' के स्थिर होने पर आत्मा और परमात्मा के साक्षात् दर्शन करते हैं। उस समय—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(कठोपनिषद् ५।१२)

आत्मा इस सम्बन्ध का अनुभव कर लेता है कि इस सकल ब्रह्माण्ड में चारों ओर उसी एक सर्वव्यापक परमात्मा का दृश्य है, उसी की ज्योति चारों ओर फैल रही है, वही सब आत्माओं में विराजमान है, यह नाना प्रकार की रचना उसी की शक्ति को प्रगट कर रही है, वह एक है, परन्तु अनेक प्रकार की सृष्टि का रचने वाला है और हर रंग में उसी की छवि है, उसी की ज्योति है। परमात्मा के जो सच्चे भक्त हैं, या जिन्होंने यह जान लिया है कि ईश्वर की भक्ति ही मनुष्य को संसाररूपी दुःख-सागर से पार उतार सकती है, वे सकल ब्रह्माण्ड में और प्रत्येक वस्तु में उसी का हाथ देखते हैं, उसी को सबमें, और सबको उसी में देखते हैं। इसी प्रकार वे प्रत्येक प्रकार के ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर होकर परम सुख को प्राप्त होते हैं। ऐसे ही मनुष्यों को मुक्ति का आनन्द मिल सकता है, उनको ही ईश्वरभक्त कहा जा सकता है। उनकी ही भक्ति पूर्ण होती है क्योंकि वह 'ब्रह्म सम्बन्ध' को अनुभव करने के पश्चात् होती है। जब मनुष्य ब्रह्म संबंध को अनुभव कर लेता है तो फिर इसके और ब्रह्म के मध्य में कोई भी वस्तु बाधा डालने वाली नहीं रहती, क्योंकि जब तक आत्मा और परमात्मा के मध्य कोई भी विघ्न डालने वाली वस्तु उपस्थित रहती है तब तक 'ब्रह्म सम्बन्ध' स्थिर नहीं रह सकता। यह मेरा है, यह तेरा है, यह मैं

हूँ, यह वह है— इस प्रकार के विचार और इस प्रकार की अवस्था होने पर कदापि आत्मा और परमात्मा में 'ब्रह्म सम्बन्ध' स्थापित नहीं हो सकता। भगवती श्रुति कहती है—

‘यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवा भूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः’ ॥

(यजुर्वेद ४०-७)

वे जो परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं उनकी आँखों पर से मेरे और तेरे का आवरण तक हट जाता है, उनके लिए न मेरा शेष रहता है न तेरा। उनको सब स्थान पर और सब में उसी परब्रह्म परमात्मा का दृश्य दिखाई देता है। उनके लिए मोह कहाँ और शोक किसका ? क्योंकि जब उनके सामने, परमात्मा की भक्ति और परमात्मा के प्रेम के अतिरिक्त अनित्य और असार पदार्थों की भक्ति और प्रेम ही न रहा तो फिर मोह किससे और शोक किसका ? उनके लिए न आये का हर्ष और न गये का शोक। ईश्वर प्रेम में डूबा हुआ आत्मा भक्ति और प्रेम का आनन्द लेता हुआ बेवश हो बोल उठता है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।

(कठोपनिषद् ५।१६)

यह मेरा आत्मा नित्य है परन्तु परमात्मा के प्रेम के बिना यह एक प्रकार से एक अनित्य वस्तु की न्याई शव के समान है। मैं कह चुका हूँ कि ईश्वर-प्रेम ही आत्मा का जीवन है। यदि आत्मा में ईश्वर-प्रेम नहीं है तो वह चेतन होता हुआ भी अचेतन है। एक ईश्वरभक्त ने उस ईश्वर-प्रेम के विषय में कहा है—

‘जा घट प्रेम न संचरे, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिन प्राण’ ॥

लोहार की खाल साँस लेती दिखाई देती है, वायु को अन्दर ले जाती है और बाहर निकालती है। भट्टी जल रही है, लोहा पिघल रहा है, सभी काम होते दिखाई देते हैं, परन्तु अन्त में वह खाल, खाल ही है, प्राण नहीं

है, इसमें। ठीक उसी प्रकार ईश्वर-प्रेम के बिना मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करते देखे जाते हैं। प्रातः से लेकर संध्यापर्यन्त इधर-उधर भागते रहते हैं, पूजा-पाठ भी करते हैं, परन्तु यह सब कुछ करके भी वे संध्या के समय देखते हैं कि उनका आत्मा शून्य है- उसमें कोई त्रुटि है, जो बाह्य वस्तुओं और बाहर के पदार्थों से पूर्ण नहीं की जा सकती। वे रोटी खाते हैं, सोते हैं, चलते हैं, नाना प्रकार के भोग भोगते हैं, परन्तु फिर भी उनके अंदर से यही ध्वनि आती है कि आत्मा शून्य है, तृप्ति नहीं। आत्मा चैतन्य वस्तु है चैतन्य की तृप्ति के लिए चैतन्य शक्ति की आवश्यकता है। वह चैतन्य शक्ति परमात्मा है। यह जो आत्मा के भीतर शून्यता प्रतीत होती है। आत्मा के अन्दर से बारम्बार यही ध्वनि आ रही है, कि नाना प्रकार के भोगों के भोगने पर भी वह शून्य है, यह ध्वनि किस चीज की अभिलाषा रखती है? शून्य स्थान किस वस्तु की अनुपस्थिति को प्रगट करता है? यह ईश्वर-प्रेम की अनुपस्थिति का चिन्ह है। अन्दर से ध्वनि आ रही है कि मैं अशान्त हूँ। मनुष्य अन्दर की शान्ति के लिए मद्यपान करता है, धन एकत्र करता है, नाना प्रकार के भोग भोगता है, परन्तु फिर वही ध्वनि आती है 'मैं अशान्त हूँ, मुझे मेरा भोजन दो, मुझे मेरे सखा, मुझे मेरे बन्धु, मेरे प्रेमास्पद, मेरे प्यारे के दर्शन करवाओ, ताकि मुझे शान्ति मिले'। वह प्रेमास्पद, वह आत्मा का प्यारा, वह आत्मा का सखा कौन है? वेद भगवान कहते हैं-

‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते’ ॥ (ऋग्वेद)

आत्मा का सखा, आत्मा का मित्र, आत्मा का आनन्द परमात्मा है। वही इसका प्यारा है, वही इसका प्रेमास्पद है, जब संसार के असार पदार्थ इन दोनों के मध्य आकर विघ्न डालते हैं, तभी आत्मा व्याकुल होने लग जाता है, दुःखी होता है और अशान्ति से भर जाता है। क्योंकि यह एक साधारण सी बात है कि जो जिसका आहार हो उससे उसके आहार को छीन लो, जो जिसका आधार हो, उससे उसके आधार को दूर कर दो तो स्वाभाविक दुःख और अशान्ति होती है। आत्मा का आहार परमात्मा है। वायु हमारे लिए कितनी कल्याणकारी है। यदि वायु न हो तो हम कुछ

क्षणों में ही मर जायें। परन्तु जब इसी वायु में मछली को पानी से बाहर निकाल कर रख दिया जाता है तो यही वायु जो हमारे लिए प्राण का आधार है, मछली की मृत्यु का कारण होती है। इसलिए कि मछली का आधार पानी है।

आत्मा का आधार परमात्मा है, आत्मा परमात्मा से दूर होकर कदापि शान्ति उपलब्ध नहीं कर सकता। आत्मा का परमात्मा के साथ वही सम्बन्ध है, जो नेत्र का रूप के साथ है, यदि रूप न हो तो नेत्र किसी काम के नहीं। नेत्र उसी समय तक नेत्र हैं, जब तक कि उनके साथ रूप विद्यमान है। रूप को नेत्रों से दूर कर दो चारों ओर अंधकार छा जाएगा। अमावस की अंधेरी रात्रि में नेत्र तो विद्यमान होते हैं, परन्तु रूप लोप हो जाता है। यही कारण है कि कुछ दिखाई नहीं देता। आत्मा नेत्र हैं और परमात्मा उनके लिए रूप है। यदि आत्मिक नेत्रों के लिए पारमार्थिक रूप उपस्थित नहीं है तो अमावस की रात्रि की न्याई आत्मा होता हुआ भी अंधेरे में ठोकरें खाता फिरता है और अशान्त रहता है। आत्मा और परमात्मा का वही परस्पर सम्बन्ध है जो सुगन्धि का पुष्प के साथ या रंग का पुष्प के साथ है। यदि पुष्प में सुगन्धि नहीं है, रंग नहीं है, कोमलता नहीं है तो वह पुष्प नहीं है प्रत्युत एक सूखा हुआ कंटक प्रतीत होता है। आत्मा पुष्प है, परन्तु परमात्मा उसकी सुगन्धि है। यदि आत्मा में यह सुगन्धि नहीं है, तो इसमें क्या सन्देह है कि आत्मा पुष्प होता हुआ भी मधुमक्खियों और भँवरों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकेगा। जिस आत्मा में परमात्मारूपी सुगन्धि विद्यमान है, जिस आत्मा पर परमात्मा की भक्ति का रंग चढ़ा हुआ है, वह स्वाभाविक ही मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। मधुमक्खी को पुष्प की ओर आकर्षित करने वाली कौन सी वस्तु है? वह उसकी सुगन्धि और रूप ही हैं। पुष्प से सुगन्धि को पृथक् कर दो तो पुष्प किस काम का? फूल से इसकी कोमलता को पृथक् कर दो तो फूल सूखा कंटक रह जायेगा। स्त्री की शोभा उसकी लज्जा है। यदि स्त्री में लज्जा नहीं है तो वह पतिव्रता नहीं है, वह द्वार-द्वार पर ठोकरें खाती फिरेगी। इसी प्रकार जिस आत्मा में

ईश्वर-प्रेम नहीं है, अथवा जो ब्रह्म के साथ 'ब्रह्म सम्बन्ध' को अनुभव नहीं करता, वह उससे विमुख होकर एक निर्लज्ज स्त्री की भांति जड़-पदार्थों अथवा अन्य मनुष्यों को ही अपना उपास्यदेव समझ कर ठोकरें खाता फिरता है और इससे आत्मा को कदापि शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जब आत्मा को 'ब्रह्म सम्बन्ध' का पता लग जाता है तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिसकी हम को भक्ति करनी है वह क्या है और कहाँ है ? श्रुति बताती है-

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ (यजुर्वेद ४०।५)

वह परब्रह्म इस सर्व ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत है, उसी की शक्ति से यह ब्रह्माण्ड चक्कर खा रहा है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी और सर्व नक्षत्रों को वही गति दे रहा है, वह दूर से दूर और समीप से समीप है। अर्थात् जिस आत्मा में उसका प्रेम नहीं है, जो उसकी भक्ति से शून्य है, वह चक्षुहीन है, उसके लिए परमात्मा बहुत दूर की वस्तु है। वह उसको उपलब्ध नहीं कर सकता। परन्तु जिस आत्मा में ईश्वर-प्रेम का समुद्र लहरें मार रहा है, जिसकी आँखें खुल गई हैं, जो उसकी भक्ति के रंग में रंगा जा चुका है, परमात्मा स्वतः उसके अन्दर अपने आप बस रहा है। उसे आवश्यकता नहीं कि वह उसे बाहर की वस्तुओं में ढूँढ़े। उसको आवश्यकता नहीं कि वह उसको जड़-पदार्थों में ढूँढ़ता फिरे। उसका प्रेमास्पद उसके अपने अन्दर ही विद्यमान है। श्रुति कहती है, वह परमात्मा हमारे आत्मा में विद्यमान है, वह इसके अन्दर और बाहर व्याप्त है। यहाँ पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब वह हमारे अन्दर ही विद्यमान है, जब वह हमारे आत्मा में ओत-प्रोत हो रहा है तो फिर हमें उसकी भक्ति करने की क्या आवश्यकता है और उसके साथ 'ब्रह्म सम्बन्ध' स्थिर करने की क्या आवश्यकता है ?

मैं कहता हूँ कि जब तक आत्मा और परमात्मा में यह 'ब्रह्म सम्बन्ध' स्थिर नहीं होता, जब तक आत्मा इस बात का अनुभव नहीं कर लेता कि इसका ब्रह्म के साथ वास्तव में अटूट सम्बन्ध है, और जब तक वह

सम्बन्ध के द्वारा परमात्मा से अपना आत्मिक भोजन प्राप्त नहीं करने लग जाता, तब तक इसकी अवस्था बिल्कुल शुष्क और शून्य रहती है। यदि नदियों में जल बह रहा है तो केवल इसलिए कि नदी का सम्बन्ध सागर के साथ है और नदी का जल सागर में गिरता है, सागर इस जल को सूर्य किरणों द्वारा ऊपर उठाता है और बादलों के रूप में नदी के मुख में डालता है। यदि समुद्र न हो, अथवा नदी का समुद्र के साथ सम्बन्ध न हो तो नदी सूख जाय, समुद्र ही तो इसके मुख में जल डालता है और इसको जीवित रखता है, जिन तालाबों या पोखरों का समुद्र या किसी नदी के साथ सम्बन्ध नहीं होता उनका पानी दूषित हो जाता है और वे सूख जाया करते हैं।

पौराणिक भाई गंगा की पूजा करते हैं, उसके जल को पवित्र समझते हैं। परन्तु यदि गंगा का समुद्र के साथ सम्बन्ध न हो, समुद्र अपने सम्बन्ध के द्वारा गंगा के मुख में पवित्र जल न पहुँचाये तो गंगा, गंगा नहीं रह सकती, उसका जल शुद्ध नहीं रह सकता। वह सूख जाय और छप्पड़ (पोखर) के पानी की भाँति विकृत हो जाय। यही दशा आत्मा की है। आत्मा की आवश्यकता है कि वह अपने से महान की शरण ले, क्योंकि जब तक वह अपने से महान शक्ति की शरण नहीं लेता तब तक शक्ति नहीं पा सकता, वह जीवन-लाभ नहीं कर सकता। मैंने कहा कि वेदों में परमात्मा को समुद्र कहा गया है, श्रुति ने आत्मा को नदी बताया है। आत्मारूपी नदी का यदि परमात्मारूपी समुद्र के साथ सम्बन्ध नहीं है तो यह नदी शुष्क जायेगी। बस! आत्मिक-शक्ति के लिए, आत्मा को सरस रखने के लिए ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-भक्ति की आवश्यकता है और ईश्वर-भक्ति के लिए सबसे पहली अनिवार्यता 'ब्रह्म सम्बन्ध' का स्थापित होना है।

श्रवण, मनन और कीर्तन

केवल 'ब्रह्म सम्बन्ध' को उपलब्ध करने मात्र से ही ईश्वर-भक्ति या ईश्वर-प्रेम की अवस्था आरम्भ नहीं हो जाया करती। यह सम्बन्ध दिन-

प्रतिदिन गूढ़ और दृढ़ करने के लिए तीन चीजों की आवश्यकता है—
अर्थात् श्रवण, मनन और कीर्तन।

ये तीन साधन इस सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए अति आवश्यक हैं।
श्रवण क्या है? जहाँ ईश्वर की भक्ति का वर्णन हो रहा हो, जहाँ ईश्वर—
प्रेम की कथा हो रही हो, जहाँ ईश्वर—भक्त बैठे हुए ईश्वर की भक्ति के
विषय में कुछ विचार कर रहे हों, वहाँ श्रद्धापूर्वक जाकर बैठना और जो
कुछ वे कह रहे हों, उसको ध्यानपूर्वक सुनना ही ईश्वर का 'श्रवण'
करना है। सुनने के पश्चात् मनन करने की आवश्यकता है अर्थात् जो
कुछ हमने सुना है उस पर विचार किया जाय, चिंतन किया जाय और
उसको अपने आत्मा में धारण किया जाय। जितना हम विचार करते हैं,
उतना ही हम पर उसका रंग चढ़ता जाता है और यह एक स्वाभाविक सी
बात है कि जिस चीज का आत्मा अधिक जाप करता है अर्थात् जिस चीज
का इस पर अधिक रंग चढ़ा होता है वह उठते—बैठते उसी का अधिक
कीर्तन करता है। यदि हम कुसंगत में जाते हैं अथवा अश्लील बात सुनते
हैं तो हमारे मन में भी अपवित्र भाव ही उठते हैं। सोते समय भी हमें
अपवित्र ही स्वप्न आते हैं, क्योंकि जो कुछ हम श्रवण या मनन करते हैं
उसका हमारे सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव पड़ता रहता है, प्रत्युत् हमारा सूक्ष्म
शरीर बनता ही हमारे विचारों से है। हम अपने विचारों से अपने सूक्ष्म
शरीर को जिस प्रकार का भी चाहें बना सकते हैं और इस पर जो भी रंग
चढ़ाना चाहें, चढ़ा सकते हैं। जैसे हमारा बाहर का स्थूल शरीर, जिस
प्रकार का हम भोजन पाते हैं, उसी प्रकार का बनता है। यदि हम अशुद्ध
भोजन पाते हैं तो हमारा शरीर भी दुर्बल, शक्तिहीन तथा रोगों का घर
बन जाता है। इसी प्रकार यदि हम अपने आत्मा को अशुद्ध भोजन देते हैं,
हम अनुचित बातें सुनते हैं, अशुभ ही चिन्तन करते हैं तो हमारा सूक्ष्म
शरीर भी वैसा ही अशुभ बनता जाता है। शास्त्र कहते हैं—

‘यन्मनसा ध्यायति, तद्वाचा वदति।
यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति।
यत् कर्मणा करोति तदभिसंपद्यते।’

जिस प्रकार के विचारों में मन मग्न रहता है, उसी प्रकार के शब्द भी उसके मुख से निकलते हैं और जिस प्रकार के शब्द उसके मुख से निकलते हैं, उसी प्रकार के वह कर्म भी करता है और जिस प्रकार के वह कर्म करता है, उसी प्रकार का उसको फल मिलता है। यदि मन में शुभ चिन्तन हो तो वाणी से भी शुभ ही शब्द निकलते हैं। परन्तु मन वही कुछ मनन करता है जो वह श्रवण करता है इसलिए श्रवण की महिमा सबसे पहले कही गई है। संत तुलसीदास ने कहा है—

सुत दारा अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय।

सन्त समागम हरि कथा, 'तुलसी' दुर्लभ दोय॥

अर्थात् धन, दौलत, स्त्री, सन्तान, सांसारिक ऐश्वर्य ये तो एक पापी से पापी मनुष्य को भी प्राप्त हैं। उनको पाकर कोई भी मनुष्य शान्ति नहीं पा सकता। शान्ति का उपाय केवल मात्र ईश्वर का प्रेम और ईश्वर-भक्ति है। वह कहाँ से प्राप्त होती है और क्योंकर मिलती है? ईश्वर-भक्तों की संगति करने से और उनके वचनों को श्रवण करने से। उपनिषद् में लिखा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठोपनिषद् ३।१४)

अरे! संसार के सुखों में और संसार के विषयों में उन्मत्त होने वाले आत्मा! उठ, जाग और ईश्वर-भक्तों की संगति में बैठ। ईश्वर-कथा का श्रवण कर। संगति में बैठने और ईश्वर-कथा का श्रवण करने की क्या आवश्यकता है? क्यों न हम नाच-रंग सुनें, क्यों न हम खेल-तमाशों में सम्मिलित हों? क्यों न हम संसार के आनन्द भोगें? यह ईश्वर-प्रेम की पुकार, ईश्वर-भक्ति का जंजाल कौन सहे? बात ठीक है। ईश्वर-प्रेम एक कठिन बाट (राह) है, ईश्वर-भक्ति एक दुर्लभ वस्तु है, सांसारिक सुखों में और संसार के खेलों में फँसा हुआ आत्मा इस ओर ध्यान नहीं देता। उपनिषद् कहता है कि ईश्वर-प्रेम एक छुरे की धार है। जो इस पर पग रखता है, वही कट जाता है। कटने से यह प्रयोजन नहीं

कि वह मर जाता है, प्रत्युत् उसके अन्दर जो मैल होती है, वह दूर हो जाती है। जैसे सुनार की भट्टी में सुवर्ण को जलाने और पिघलाने से उसकी मैल दूर हो जाती है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर-प्रेम की अग्नि में आत्मा को जलाने से उसकी मैल दूर हो जाती है। परन्तु प्रेम का प्याला कौन पी सकता है, इस प्रेम की अग्नि में कौन जल सकता है? एक ईश्वर-भक्त ने कहा है—

प्रेम प्याला जो पिये, सीस दक्षिणा दे।

लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेम का ले॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह में फँसा हुआ मनुष्य क्या सीस दे सकता है, वह ईश्वर-प्रेम का आनन्द क्या ले सकता है? जो मनुष्य सांसारिक सुखों अथवा सांसारिक भोगों के आनन्द में ही डूब रहा है, वह इस सुख के मार्ग को छोड़कर ईश्वर-प्रेम के शुष्क मार्ग पर कैसे चल सकता है? इसीलिए उपनिषद् में लिखा है कि ईश्वर-प्रेम या ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग छुरे की धार है और यह अति संकुचित है, अति कठिन है। इस पर चलना किसी विरले का ही काम है। परन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि एक बार आत्मा में ईश्वर-प्रेम की लहर उठे, आत्मा में ईश्वर-भक्ति का स्रोत प्रवाहित हो जाय फिर इससे अधिक आनन्द देने वाली कोई दूसरी वस्तु नहीं रहती। मनुष्य को एक बार ईश्वर-प्रेम की लौ लग जाय, फिर वह बारंबार उसी की ओर जायेगा। उसी का श्रवण करके उसको आनन्द आता है, उसी का मनन करके उसको सुख मिलता है और वह रात-दिन उसी का कीर्तन करता रहता है। इसी प्रकार उसके सूक्ष्म शरीर में एक परिवर्तन होता जाता है यहाँ तक कि धीरे-धीरे उसका कुल शरीर ही ऐसा बन जाता है कि वह ईश्वर-प्रेम, ईश्वर-भक्ति में तद्रूप हो जाता है—

‘यथोदकं शुद्धे शुद्ध मासिक्तं तादृगेव भवति।

एवं मनोविजानत आत्मा भवति गोतम॥’ (कठोपनिषद् १४।१५)

जैसे स्वच्छ और शुद्ध जल, शुद्ध और पवित्र जल में डालने से उसके साथ मिलकर तद्रूप हो जाता है, अर्थात् उसके साथ ही मिल जाता है, इसी प्रकार, ईश्वर-भक्त का आत्मा सम्पूर्ण मल से पवित्र-शुद्ध और

निर्मल होकर ईश्वर-प्रेम में तद्रूप हो जाता है। परन्तु ऐसा कब होता है, जब कि आत्मा के ऊपर से मैल के आवरण दूर हो जाते हैं। यह मैल ईश्वर-प्रेम की अग्नि में जलाने से ही दूर हो सकता है और यह ईश्वर-प्रेम तब ही उत्पन्न हुआ करता है जब कि मनुष्य ईश्वर के विषय में श्रद्धापूर्वक श्रवण करता रहे और जो कुछ श्रवण करे उस पर विचार करे और जो विचार करे उसी का फिर कीर्तन करे अर्थात् जहाँ जाये उसका यश गाये, उसकी महिमा का कीर्तन करे। यदि इसने श्रवण और मनन के द्वारा अपने आत्मा को ईश्वर-प्रेम में दृढ़ कर लिया है तो फिर उसको भगवद्-कीर्तन के लिए अधिक यत्न नहीं करना पड़ता, आनन्द की धारा इसके अन्दर बहने लगती है, प्रेम का सागर इसके अन्दर लहरें मारने लगता है और वह हर समय ही ईश्वर-प्रेम में मग्न रहता है।

तन, मन, धन का समर्पण

श्रवण, मनन और कीर्तन इन तीन साधनों के पश्चात् समर्पण की अवस्था आती है। जब ईश्वर-भक्त में ईश्वर-प्रेम का उदय होता है तो वह अपना सब कुछ उसी के समर्पण कर देता है, परन्तु समर्पण की मंजिल अति कठिन है, यह अत्यन्त कठिन घाटी है। परन्तु सत्य यह है कि जब तक तीन प्रकार का समर्पण नहीं होता, तब तक ईश्वर-भक्ति पूर्ण नहीं होती। समर्पण के बिना यह तो सम्भव है कि ईश्वर-भक्त के मन में परमात्मा के प्रेम की तरंगें उठती हों, परन्तु वे चिरस्थायी नहीं हो सकतीं। वह देखता है कि एक समय वह ईश्वर के प्रेम में तन्मय हो जाता है, दूसरे समय में उसका आत्मा बिल्कुल शून्य और शुष्क रह जाता है। इसका कारण क्या है? जैसे मैंने पहले कहा है, आत्मा चेतन है। चेतन आत्मा के लिए चेतन शक्ति की आवश्यकता है। चेतन आत्मा चाहता है कि वह अपने चेतन सखा, चेतन बन्धु परमात्मा के संग रहे। वह इसके समीप जाता भी है, परन्तु इसने अभी तक तन, मन, धन का समर्पण नहीं किया, इसलिए इस समीपस्थ अवस्था में इसको जब ही अपने तन, मन या धन का विचार आता है वह अपने सखा से दूर हो जाता है और प्रेम में विघ्न पड़ जाता है। यदि इन सर्व वस्तुओं का परमात्मा में स्वाहा कर दिया जाय

तो फिर इनके पीछे आत्मा नहीं भटकेगा। हमको यह देखना है कि इनका समर्पण कैसे हो सकता है? तन का समर्पण कैसे हो सकता है? तन का समर्पण बड़ा सहज है, धन का समर्पण भी बड़ा सहज है, परन्तु मन का समर्पण बड़ा कठिन है। मन बड़ा ही चंचल और शीघ्रगामी है। ईश्वर-भक्त अपने तन और धन को समर्पण कर मन को भी समर्पण करना चाहता है।

किन्तु वह देखता है कि मन उसके वश में नहीं आता। वह सोचता है कि इसको क्योंकर वश में करे और कैसे इसको ईश्वर प्रेम की वेदी पर चढ़ाये? हम स्थूल वस्तुओं का समर्पण अधिक शीघ्र और सुगमता से कर सकते हैं। किन्तु जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, उतना ही अधिक हमारे लिए इसको पकड़ना और समर्पण करना कठिन होता है। मन जो अति सूक्ष्म और शीघ्रगामी है, उसका वश करना बड़ा ही दुष्कर है। परन्तु मन के समर्पण से पहले तन का समर्पण आवश्यक है, क्योंकि मन, तन के सहारे पर ही कल्लोल करता है। यदि तन को पहले ईश्वर-प्रेम की वेदी पर न्यौछावर कर दिया जाय तो फिर मन का समर्पण कर देना बड़ा सुगम हो जाता है। प्राचीन काल में जो यज्ञ रचाये जाते थे, उनमें ऋषि-मुनि इसी प्रकार का बलिदान किया करते थे। उनमें पशु-वध नहीं होता था, प्रत्युत् वे अपनी पशु-इन्द्रियों को उनमें बलिदान किया करते थे। वे अपने तन को ईश्वर-प्रेम की वेदी पर स्वाहा करते थे। वह एक तप का समय था, पशु-इन्द्रियों को मार कर तन, मन, धन को परमात्मा के समर्पण करके ईश्वर-प्रेम की अग्नि में स्वाहा कर देने का काल था। जब मनुष्यों की अवस्था पतित हो गई और तप के अधिकारी न रहे, सांसारिक विषयों में फँस गये, इन्द्रियों को न्यौछावर करने की बजाय उनको मोटा करने लग गये तो उन्होंने बजाय इन पशु-इन्द्रियों की बलि के पशुओं का वध करके यज्ञ में डालना शुरू कर दिया और पशु-इन्द्रियों की बलि पशुओं की बलि में परिवर्तन कर दी गई।

कृष्ण भगवान ने कहा है कि यज्ञ कई प्रकार के हैं। सबसे उत्तम यज्ञ पशु-इन्द्रियों का बलिदान है। आवश्यकता है कि मनुष्य आँख का, कान

का, नाक का और हाथ-पाँव का बलिदान करे। इन सर्व इन्द्रियों को एक-एक करके ईश्वर के लिए न्यौछावर करे। यह जो कहा जाता है कि हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि पशुओं के अंग काट-काट कर यज्ञ में आहुति देते थे, मिथ्या है। वे पशुओं के अंग काट कर यज्ञ में आहुति नहीं देते थे प्रत्युत् वे अपने अंगों को एक-एक करके समर्पण करते थे।

आँख का बलिदान क्या है ? आँख का विषय रूप है जहाँ वह सुन्दर वस्तु देखती है वहाँ ही वह इसके पीछे हो लेती है, चाहे इसमें पाप हो अथवा पुण्य। इस प्रकार रूप के पीछे भागने वाली आँख अनेक बार मनुष्य के पतन का कारण बनती है। कितने ही ऋषियों-मुनियों का तप केवल आँख की बलि न होने से भंग हो गया। सुन्दर स्त्री को देखा, आँख उसके पीछे हो ली। सुन्दर वस्तुओं को देखा, आँख उनके पीछे भाग निकलीं, तो मन भी उधर चल पड़ा तो फिर तन की क्या शक्ति थी ? जो उसका साथ न देता। परिणाम यह हुआ कि आँख ने उसके सारे यज्ञ को भस्म कर डाला और उसका सारा तप मिट्टी में मिल गया। इसीलिए ऋषि लोग इस बात पर जोर देते थे, कि अपने एक-एक इन्द्रिय को परमात्मा के सामने समर्पण किया जाय। उसी प्रकार कान का विषय क्या है ? जब वह मीठी आवाज या शब्द को सुनता है, तो झट उधर भाग निकलता है, उसके साथ मन भी दौड़ने लगता है। मन के साथ तन भी गति में आ जाता है। ऋषियों को आवश्यकता प्रतीत हुई कि कान का भी इस यज्ञ में बलि देनी चाहिये। इसी तरह नाक का विषय है सूँघना, जब वह किसी सुगन्धि वाली वस्तु को सूँघता है, तो उसमें लिप्त हो जाता है, उसके लिप्त होने से मन भी उसी ओर जाता है। मन के हिलने से यज्ञ में फिर विघ्न पड़ता है।

इसीलिये ऋषियों ने देखा कि यज्ञ को सफल करने के लिए और इसको सम्पूर्ण विघ्नों से बचाने के लिए नाक का भी समर्पण करना आवश्यक है। जिह्वा का विषय रस है। जिह्वा किसी स्वाद वाली वस्तु को चखती है और उसी में फँस जाती है। मन चाहता है कि वही स्वाद वाली वस्तु फिर मिले तो अच्छा है। मन उसी वस्तु के लिए भागने लगता है, मन के भागने से यज्ञ में फिर विघ्न पड़ता है। ऋषियों ने देखा कि जिह्वा भी यज्ञ

में विघ्न डालती है उसको भी समर्पण करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार वे एक-एक इन्द्रिय जो ईश्वर-भक्ति के यज्ञ में बाधा व विघ्न डालती थी, बलिदान कर देते थे। परन्तु बलिदान का तात्पर्य यह नहीं था कि वे उन इन्द्रियों को काट-काट कर अग्नि में आहुति देते थे। नहीं, बल्कि वे उनको इनके विषयों से रोकते थे। वे उन सारे मार्गों को रोक देते थे कि जिनके द्वारा चंचल मन बाहर को भाग जाता है, उनका सारा यज्ञ इस मन को वशीभूत करने के लिए होता था, क्योंकि 'मन जीते जग जीत है, मन हारे जग हार'। इन्द्रियों को इनके विषयों से रोकना अति कठिन कार्य है, क्योंकि ये इन्द्रियाँ ही हैं कि जिनके द्वारा मन इधर-उधर डाँवाडोल हो रहा है और वश में नहीं आता। यदि उनका निरोध हो जाय तो फिर मन का वश कर लेना सहज है। पतंजलि मुनि योग-शास्त्र में कहते हैं—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः॥

(यो. १।२)

अर्थात् योग क्या है ? चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। चित्त की वृत्तियों का निरोध ही महायज्ञ है, इस महायज्ञ में इन सब इन्द्रियों की बलि की आवश्यकता है।

भगवान बुद्ध ने इसी यज्ञ की महिमा प्रगट करने के लिए अपने भिक्षुओं से कहा था कि यज्ञ का तात्पर्य पशु-वध नहीं है। भगवान बुद्ध के समय में पशु-हिंसा बहुत होती थी, मूर्ख और अज्ञानी जन पशु-इन्द्रियों के बलिदान को छोड़ कर पशुओं का बलिदान करते देखे जाते थे। परन्तु भगवान बुद्ध ने इनको समझाया कि बलिदान का तात्पर्य पशुओं का बलिदान नहीं है, बल्कि अपनी इन्द्रियों का बलिदान है। भगवान बुद्ध अपने भिक्षुओं को उपदेश करते हैं, 'भिक्षुओं! यह एक आश्चर्यजनक दृश्य है कि इस महायज्ञ में जब तक आँख को नहीं जलाया जाता, जब तक नाक को नहीं जलाया जाता, जब तक हाथ-पाँव को नहीं जलाया जाता, जब तक मन को नहीं जलाया जाता, तब तक यज्ञ की पूर्ति कठिन है। कान जल रहे हैं, नाक जल रही है, हाथ जल रहे हैं या मन भी जल रहा है अर्थात् सब पशु-इन्द्रियाँ जल कर भस्म हो रही हैं। यह यज्ञ तप का यज्ञ

है। जब तक कोई मनुष्य तप के यज्ञ में अपनी सर्व इच्छाओं को बलिदान नहीं कर देता, तब तक उसका यह यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए ऐसे यज्ञ की आवश्यकता है, ईश्वर-प्रेम रूपी अग्नि की आवश्यकता है जिसमें मनुष्य अपनी सर्व इन्द्रियों अपनी सर्व इच्छाओं को भस्म कर दे। ऐसा किए बिना वह शुद्ध और पवित्र कैसे हो सकता है? इन्द्रियों का बलिदान यही है कि उनको उनके विषयों से रोका जाय।

एक राजा की कहानी प्रसिद्ध है कि उसने अपनी अधिकांश उम्र विषय-भोग में नष्ट की। उसने अपनी युवावस्था के दिनों में कभी तप नहीं किया बल्कि रात-दिन विषय-भोग में संलग्न रहा था। जब इसकी इन्द्रियों में शिथिलता आने लगी और उसकी दशा बहुत ही खराब होने लगी, तो उसको बहुत दुःख हुआ और वह तीर-कमान लेकर जंगल में चला गया और सोचने लगा कि आँख ने ही मेरा नाश किया है, क्योंकि इसी के द्वारा मैं एक सुन्दर स्त्री या वस्तु को देखकर उसकी ओर भागा। यही मुझे इस ओर ले गई। बस! आँख ही मेरी शत्रु है सबसे पहले मैं इसी को तीर मारूँगा। उसने फिर सोचा कि आँख का क्या दोष? बड़ा दोष तो मेरे कानों का है वे मुझे मधुर आवाज की ओर ले गये। बस, क्यों न पहले इस कान पर ही तीर मारूँ? राजा तीर कमान में रखता है पुनः सोचता है कि कान का भी क्या दोष है? जिह्वा के वश होकर कितने ही पशुओं का वध किया है, और कितने ही अभक्ष्य पदार्थ खाये, जिह्वा ने मेरी पशु-इन्द्रियों को उत्तेजित किया, बस! जिह्वा सबसे अधिक पापी है, पहले जिह्वा को तीर लगाना चाहिए। वह तीर कस लेता है, और छोड़ने ही वाला है कि उसको विचार आता है कि जिह्वा का भी क्या दोष है?

सबसे बड़ा पापी तो मन है। इस मन में कोई ऐसी वस्तु विद्यमान है जो यह सब कार्य करवाती है और इसी ने मेरा नाश किया है, पहले इसको ही मारना चाहिए। यह कहकर वह मन की ओर तीर सीधा करता है कि इतने में ही भगवान बुद्ध उसके समक्ष आते हैं और कहते हैं—राजन्! किसको मार रहे हो? राजा उत्तर देता है कि भगवन्! मेरी

इन्द्रियों ने मेरा नाश कर दिया है, मैं चाहता हूँ कि उन्हें एक-एक करके तीर से मार डालूँ। भगवान बुद्ध उत्तर देते हैं— राजन्! इन्द्रियों ने क्या दोष किया है, इन्द्रियों को तीर मार कर तेरा कल्याण नहीं होगा। उस चीज को मार जो तेरी इन्द्रियों को चला रही है अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी जो मन है, जब तक तू उसको वश में नहीं करता, तब तक तेरा कुछ भी नहीं बनेगा। राजा की आँखें खुलती हैं और वह तप में लग जाता है। तात्पर्य यह है कि जब तक पशु-इन्द्रियों को वेदी पर नहीं चढ़ाया जाता, जब तक कि उनके पशु-धर्म का त्याग नहीं किया जाता तब तक मन का वश में होना भी कठिन है। इन्द्रियों का त्याग यही है कि वे डाँवाडोल इधर-उधर न भटकती फिरे। आँख का बलिदान यह है कि इसको इसके विषय से रोक कर वश में किया जाय, कान का बलिदान यह है कि उसको सुनने से रोक कर वश में किया जाय। यह न हो कि आँख जिस ओर चाहे भागती फिरे या कान जो ध्वनि सुनना चाहें, वे शरीर को उसी ओर खींचकर ले जायें। नहीं, इन सबको परमात्मा के समर्पण करने की आवश्यकता है।

हिन्दुओं का विचार है कि जो पशु यज्ञ में बलि किए जाते हैं वे दूसरे लोक में जाकर जीवित हो जाते हैं। यह विचार सर्वथा मिथ्या है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं है कि जो इन्द्रियाँ परमात्मा की भक्ति में बलि की जाती हैं, जो इस वेदी पर चढ़ा दी जाती हैं, वे अवश्य ही जीवित हो जाती हैं उनकी सभी मैल धुल जाती है, उनमें जो पाप के मार्ग पर चलने की शक्ति है वह पुण्य-मार्ग पर चलने लगती है। पाप ही मृत्यु है, जब इन्द्रियाँ पाप के मार्ग से हट गईं तो मन भी उस ओर नहीं जायगा। जब मन और इन्द्रियाँ दोनों ही पाप के मार्ग से हट गये, तो फिर दुःख काहे का और डर किससे? आत्मा की मैल धुलने लगती है और वह अधिक से अधिक ईश्वर-भक्ति के प्रेम में रंगा जाने लगता है। यहाँ तक कि वह तद्रूप हो जाता है। उपनिषद् कहता है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।

सतु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ (कठोपनिषद् ३।८)

अर्थात् जब ही मन के संकल्प विकल्प शुद्ध हो जाते हैं, आत्मा के अन्दर ईश्वर की ज्योति उत्पन्न हो जाती है और वह मृत्यु से ऊपर हो जाता है अर्थात् वह एक जीवनमुक्त आत्मा हो जाता है। परन्तु प्रश्न फिर वही है, कि मन को कैसे वश में किया जाय ? यह जो ईश्वर-प्रेम की ज्योति का स्थान है, यह जो ईश्वर-भक्ति का केन्द्र स्थान मन है उसको कैसे वश में किया जाय, उसका क्योंकर समर्पण किया जाय ? तन को तो समर्पण कर दिया क्योंकि इन्द्रियों के समर्पण कर देने से तन स्वयं ही समर्पित हो जाता है। परन्तु मन को समर्पण करने के लिए क्या उपाय है ? इसके लिए एक ही साधन है, मन में संकल्प किया जाय कि मैं समर्पण कर दिया गया हूँ। मन को कहा जाय कि तू मेरा नहीं रहा, प्रत्युत् तुझे किसी दूसरे को दे दिया गया है, इसको बार-बार यही कहा जाय। इससे मन में यह भाव उत्पन्न होगा, कि जब वह अपना नहीं है, तो उसमें मनमाने भाव भी पैदा नहीं होने चाहिए प्रत्युत् उसी की इच्छानुसार इसमें भाव पैदा हों जिसे इसको समर्पण कर दिया गया है।

जब मन को ईश्वर के समर्पण कर दिया जायगा तो इसमें भाव भी ईश्वर-भक्ति के ही उत्पन्न होंगे। मन के समर्पण के विषय में एक कथा आती है— एक बार राजा जनक याज्ञवल्क्य ऋषि के पास पधारे और उन्होंने उनसे प्रार्थना की, कि हे भगवन्! मैं कौनसा उपाय करूँ कि जिससे मेरा मन वश में हो और वह ईश्वर भक्ति में लगे। ऋषि ने कहा कि हम इसका साधन आपको बता देंगे, परन्तु पहले आप दक्षिणा दें। राजा ने कहा कि यदि मैं चाहूँ तो सारा राज-पाट आपको दक्षिणा में दे सकता हूँ। ऋषि उत्तर देता है कि राजपाट तेरा नहीं है यह तो चलती-फिरती माया है, यही राज्य है जो तेरे पिता और पितामह के पास था, अब तेरे पास है जब यह तेरे पिता आदि के पास न ठहरा, तो तेरे पास कैसे ठहरेगा ? बस! राज्य तेरी वस्तु नहीं। किसी ऐसी वस्तु का दान दे जो तेरी अपनी हो। राजा ने कहा— मैं अपना सम्पूर्ण धन आपके अर्पण करता हूँ। ऋषि ने कहा कि धन भी तेरा नहीं, क्योंकि इसका अधिकांश भाग तेरे पूर्वजों ने एकत्र किया है और वह भी प्रजा से माँग कर एकत्रित किया, जो प्रजा

का धन है वह तेरा धन नहीं है, प्रजा का ही है, वह उसकी भलाई में ही व्यय होना चाहिए, तेरा इस पर क्या अधिकार है? तू इसकी रक्षा के लिए परमात्मा की ओर से भेजा गया है। रक्षक को कदापि भक्षक नहीं होना चाहिए। अस्तु! तू जो धन की दक्षिणा देता है, वह तेरी अपनी वस्तु नहीं है, कोई ऐसी दक्षिणा दे जो तेरी अपनी हो। राजा बोलता है कि महाराज! ये घोड़े, गाड़ियाँ, हाथी, बैल इत्यादि तो मेरे हैं, आप इनको दक्षिणा में ग्रहण कीजिये। ऋषि उत्तर देता है कि यह भी तेरी वस्तु नहीं है, ये भी तूने बाहर से पकड़ कर अपने पास एकत्र कर रखे हैं। आज तेरे पास हैं, कल किसी दूसरे के पास चले जायेंगे, राजा की आँखें खुलती हैं। अन्त में वह बोलता है कि भगवन् ! मैं अपने तन को आपके अर्पण करता हूँ।

ऋषि उत्तर देता है कि तन अर्पण करने से भी कुछ नहीं बनता। तन तो केवल एकमात्र मृत वस्तु है इसके अर्पण से भी ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती। राजन् ! अगर दक्षिणा देना चाहते हो तो मन की दक्षिणा दो। राजा प्रसन्न होकर बोला, भगवन् ! मैं मन को आपके अर्पण करता हूँ। ऋषि ने कहा— 'अच्छा जाओ अब तुमको ईश्वर-प्राप्ति होगी।' राजा जनक चले गये और ईश्वर के ध्यान में लग गये, किन्तु उन्होंने देखा कि मन वैसे का वैसे ही डाँवाडोल है, और ईश्वर की ओर से विमुख है। वह फिर ऋषि के पास आये और कहने लगे, भगवन् ! अब भी ईश्वर-प्राप्ति नहीं हुई, मन वैसे का वैसे ही चंचल है। ऋषि ने उत्तर दिया, राजन् ! तूने मन का समर्पण नहीं किया इसलिए तुझे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई, यदि तूने मन समर्पण कर दिया था तो फिर तेरे मन में यह विचार ही कैसे उत्पन्न हुआ कि परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हुई? राजन् ! यदि मन को दे दिया होता तो इसमें यह विचार कदापि उत्पन्न न होता। क्योंकि जो वस्तु अपनी नहीं रहती या दूसरे को दे दी जाती है तो फिर उसमें अपनी भावना रखना पाप है। जब मन समर्पण कर दिया गया तो फिर उसमें अपनी ओर से कोई भी विचार उत्पन्न नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जब तक मन को हर एक प्रकार के विचारों और हर प्रकार की तरंगों

से रिक्त नहीं किया जाता तब तक वह ईश्वर के प्रेम में मग्न नहीं हो सकता। मन का स्वभाव है कि एक समय में एक ही वस्तु का चिंतन कर सकता है, एक समय में इसके अन्दर एक ही लहर उठ सकती है। यदि इसमें सांसारिक पदार्थों के विचार उठ रहे हैं, यदि वह संसार के भोगों के विचार में उलझा हुआ है, यदि उसमें सांसारिक सम्बन्धों की लहरें उठ रही हैं तो इसमें ईश्वर का चिन्तन कैसे हो सकता है? मन बहुत ही दूर तक गमन करने वाली शक्ति है, वह बहुत ही विशाल है, उसमें बड़े से बड़ा विचार समा सकता है, परन्तु एक समय में वह एक ही का चिन्तन कर सकता है, दो का नहीं। ईश्वर की लीला न्यायी है। एक ईश्वर-भक्त ने कहा है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।

एवं

प्रेम गली अति सांकरि, तामें दो न समाहि॥

अर्थात् जब तक मेरे मन में मेरे ही विचार उत्पन्न हो रहे थे, जब तक मैं यह समझ रहा था कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ, मैं बड़ा चतुर हूँ, मैं बड़ा धनी हूँ, मैं बड़ा बलवान् हूँ, मैं बड़ा सुन्दर हूँ, मेरे पास यह धन है, यह दौलत है, इतने बेटे हैं— इत्यादि तब तक मेरा मन इन्हीं चीजों में फँसा हुआ था और इसमें परमात्मा का चिन्तन होना अति कठिन था, परन्तु जब मैंने इन चीजों को अपने मन के अन्दर से निकाल दिया, जब मैंने अपनी 'मैं' को मार दिया, जब अहंकार दूर हो गया तो ईश्वर-प्रेम का दृश्य मुझे दिखाई दिया, इसके प्रेम की चिंगारी ने मेरी सम्पूर्ण 'मैं' को जला कर भस्म कर दिया और मुझे पता लगा कि मैं तो कुछ भी नहीं था, ये सारी चीजें जिनको मैं अपनी समझता था और जिनके पीछे मेरा मन दिन रात चलायमान रहता था, वे सबकी सब प्रेम रस से शुष्क और शून्य सिद्ध हुईं।

अब वह ईश्वर के प्रेम में इतना मग्न हो जाता है कि वह अपने आपको भी भूल जाता है। ईश्वर-भक्त कहता है प्रेम की गली बहुत ही तंग है, इसमें दो नहीं समा सकते। जब तक मन में दो का विचार रहता है

तब तक प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता। मसीह ने कहा है कि तुम ईश्वर और प्रकृति की एक साथ पूजा नहीं कर सकते। इसका यह भी अर्थ है कि ईश्वर-भक्ति और ईश्वर-प्रेम के लिए मन को ईश्वर के समर्पण कर देना सबसे पहली शर्त है। जब तक मन में प्राकृतिक पदार्थों के विचार उठते रहते हैं, तब तक मन उनके समर्पण रहता है, लेकिन जब ईश्वर-प्रेम का उसमें उदय होता है तब प्राकृतिक पदार्थों का प्रेम धीरे-धीरे कम होने लगता है। परन्तु प्रश्न फिर वही है कि मन को क्योंकर ईश्वर के समर्पण किया जाय ? इसका साधन जैसा कि मैंने पहले कहा है केवल यही है कि मन को कहा जाय, कि मैंने तुझको दे दिया, तू अब मेरा नहीं है, तू ईश्वर का है, ईश्वर ही तेरा प्राणाधार है, ईश्वर ही तेरा प्राप्तव्य है। अरे मन ! ईश्वर इच्छा को पालन कर, ईश्वर तेरे साथ हो, ईश्वर की कृपा तुझ पर हो, तू ईश्वर इच्छा से बाहर मत जा। तू ईश्वर का है, ईश्वर तेरा है, इस प्रकार बार-बार मन को कहा जाय और इसमें एक लहर पैदा कर दी जाय, तो फिर वह भी समझने लगता है कि वह ईश्वर अधीन है, ईश्वर-इच्छा का पालन करना उसका कर्तव्य है।

ईश्वर-प्रेम में मग्न होना, ईश्वर-भक्ति का आनन्द उठाना इसका एकमात्र साधन है। इसी तरह बार-बार इसको ईश्वर के समर्पण करने से, बार-बार इसको यही कहने से कि तू ईश्वर का है, मन एक दिन उसका हो जाता है और वह स्वाभाविक ही इस ओर जाने लगता है क्योंकि मन में यह शक्ति है कि इसको जिस ओर लगाओ वह लग जाता है। मन के लगने से इन्द्रियाँ भी उसी ओर लग जाती हैं। उपनिषद् कहता है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।

तस्यन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ॥ (कठोपनिषद् ३।६)

जब मन यह समझने लग जाता है कि वह ईश्वर का है तो बाह्य पदार्थों के पीछे भागने से रुक जाता है, उनके पीछे भागने से ही वह मलिन होता है, मलिन मन पर ईश्वर-प्रेम का रंग कैसे चढ़ सकता है ? यह सत्य ही है—

36

सूरदास ! कारी कामरि पर,
चढ़त न दूजो रंग।

मलिन मन पर ईश्वर-प्रेम का रंग नहीं चढ़ता, परन्तु जब वह उधर से हट जाता है तो इसमें एक प्रकार की ज्योति उत्पन्न होती है, एक प्रकार की लहर उत्पन्न होती है। इस अवस्था में मन अपनी चंचलता को छोड़ देता है और सभी इन्द्रियाँ भी उसके अधीन हो जाती हैं। वह एक सधे हुए घोड़े की भाँति हो जाता है जहाँ चंचल अवस्था में वह नाना प्रकार की कल्लोल करके, नाना प्रकार के नाच नचा कर, इन्द्रियों को भी अनुचित मार्ग पर ले जाता था और शरीररूपी गाड़ी को दुलत्ते मार-मार कर तोड़ रहा था, वहाँ अब उसके वश में हो जाने से केवल यही नहीं कि इन्द्रियाँ ही वश में हो जाती हैं बल्कि उसके साथ शरीर भी सुरक्षित हो जाता है, इसकी बुद्धि उज्ज्वल होने लगती है, उसमें स्वयं ही एक प्रकार का प्रकाश होने लगता है। उपनिषद् कहता है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्तरः।

सोऽध्वनः पारमान्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ (कठोपनिषद् ३।१९)

चंचल मन के वश में होने से बुद्धि उज्ज्वल होती है और वह विज्ञानरूपी लगाम से मन को ईश्वर की ओर ले जाती है, यहाँ तक कि मन में ईश्वर-प्रेम की तरंगें उठने लगती हैं और वह उसके प्रेम में मग्न हो जाता है। ईश्वर-प्रेम के ही द्वारा वह परम-पद को प्राप्त होता है। परन्तु जब तक मन स्थिर नहीं होता, जब तक मन ईश्वर के समर्पण नहीं किया जाता, तब तक वह इधर-उधर ही भटकता रहता है। मन से बढ़कर कोई भी आवारागर्द नहीं है। सोते-जागते, चलते-फिरते, यह आवारागर्दी करता रहता है। खाते समय मुँह हिल रहा है, हाथ हिल रहे हैं, दाँत काम कर रहे हैं, जिह्वा काम कर रही है, परन्तु मन किसी और ही स्थान की सैर कर रहा है। पुस्तक सामने रखी है, आँखें अक्षरों को देख रही हैं, पुस्तक पढ़ी जा रही है, परन्तु मन किसी और स्थान की सैर करने लगा होता है। परन्तु अपनी इच्छा-शक्ति पर बल देकर, उसी मन को रात को सोते समय कह दो कि आज तीन बजे जागना है। सम्भव है

कि पहले दिन वह तीन बजे न जाग सके परन्तु दूसरे दिन दृढ़ता से कह दो कि आज तीन बजे अवश्य ही जागना है, आप देखेंगे कि वही आवारागर्द मन जो दिन-भर इधर-उधर भटकता रहा था किस प्रकार आपकी आज्ञा का पालन करता है। ठीक तीन बजे के लगभग वह आपको जगा देगा, आपकी आँख खुल जायगी। यदि आप में से इस बात का किसी ने अनुभव न किया हो तो वह कर सकता है। तात्पर्य यह है कि मन जहाँ चंचल है, वहाँ वह आज्ञाकारी भी है। आप इसको जिस ओर लगाना चाहें, लगा सकते हैं।

जैसा रात को सोते समय आप इसको कह देते हैं कि इतने बजे जागना होगा, वह ठीक उसी समय आपको जगा देता है, हालांकि न आपके पास आवाज देने वाला कोई नौकर है, न अलार्म वाली घड़ी, न कोई दूसरा जगाने वाला है। यदि उसी मन को कहा जाय, कि तुझे ईश्वर के समर्पण कर दिया गया तो जब वह एक अवस्था में तुम्हारी आज्ञा का पालन करता है, तो दूसरी अवस्था में क्यों नहीं करेगा? अवश्य ही करेगा। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इसको बार-बार कहा जाय कि तुझे दे दिया, तुझे दे दिया, तुझे ईश्वर के समर्पण कर दिया। सम्भव है कि आप यहाँ पर यह शंका करें कि रात के समय जो हम में जागने वाली शक्ति है वह मन नहीं है, बल्कि सब का conscience (चेतना) है परन्तु ऐसा नहीं है। जिसको सब का conscience (चेतना) कहा जाता है वह मन से कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यह मन ही है जो जागते समय भी जागता रहता है और सोते समय भी जागता रहता है। वेद भगवान कहते हैं—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकंतन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजुर्वेद अ. ३४-१)

मन जागते समय तो दूर-दूर भागता ही रहता है परन्तु सोते समय वह इससे भी दूर-दूर जाता है। मन ही आत्मा में दीपक है। यदि मन के संकल्प-विकल्प शुद्ध हैं, मन परमात्मा के अधीन हो गया है, मन में

ईश्वर-प्रेम की लहर उठ रही है तो इस दीपक में ईश्वर-प्रेम की ज्योति स्वयं ही दैदीप्यमान हो जाती है। वेद में बार-बार परमात्मा से यही प्रार्थना की गई है कि परमात्मन् ! मेरे मन को शुद्ध करो, इसमें शुद्ध संकल्प उत्पन्न हों। यदि मन शुद्ध हो गया है, मन परमात्मा के समर्पण हो गया है तो इसमें हर समय उसी का विचार उत्पन्न होगा, उसी के प्रेम का प्रभाव होगा, मन उसी ओर भागेगा, यहाँ तक कि सोते समय भी मन ईश्वर की भक्ति में ही मग्न रहेगा, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि मन जिस विचार या जिन वस्तुओं की अधिक चिंता करता है, जिन वस्तुओं का विचार जागते समय उसको घेरे रहता है, वही वस्तुएँ और वही विचार सोते समय भी इसको आ दबाते हैं। यदि जागते समय मन की अवस्था ठीक हो, वह ईश्वर-प्रेम में मग्न रहता हो तो इसके लिए सम्भव नहीं कि वह सोते समय इधर-उधर चलायमान हो सके। इस प्रकार जब मन ईश्वर के समर्पण हो जाता है तो वह भक्ति के रंग में रंग जाता है।

इसमें एक नया जीवन उत्पन्न होता है, इसमें नया तेज और बल उत्पन्न होता है, इसकी दुर्बलता दूर होने लगती है। जो मन पहले थोड़े-थोड़े से प्रलोभनों में फँस कर गिर जाता था, अब ईश्वर के समर्पण होने से वह ऐसा बल प्राप्त करता है कि कोई भी प्रलोभन इसको गिरा नहीं सकता, उसकी सोई हुई शक्तियाँ जागने लगती हैं। ईश्वर-प्रेम के गुप्त भेद उस पर खुलने लगते हैं और वह अनेक बार ऐसे दृश्य देखता है कि जिनको देखकर वह प्रभु के प्रेम में नाचने लग जाता है, मस्त हो जाता है, अपनी हस्ती को भूल जाता है, सभी ओर उसी की महिमा देखता है। मन की यह अवस्था आदरणीय है। इसको शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। एक ईश्वर-भक्त ने मन की उसी अवस्था के विषय में कहा है—

‘मरहम हो सो जाने साधो, ऐसा लोक हमारा।

बिना बादरी बूँदें बरसें, बिन सूरज उजियारा।।’

ईश्वर-प्रेम के राज्य में बादल और सूर्य का क्या हस्तक्षेप हो सकता है ? उपनिषद् कहता है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तमनु भाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ (कठोपनिषद् ५।१५)

यह बाहर का सूर्य अपनी ज्योति से बाहर की वस्तुओं को ज्योतिर्मय कर सकता है, किन्तु वह आत्मा में इस ज्योति का प्रकाश नहीं कर सकता, जो कि ईश्वरीय ज्योति है। चन्द्रमा अपनी शीतल चाँदनी से वनस्पति को रस दे सकता है, हमारे शरीरों में तेज और शांति उत्पन्न कर सकता है, परन्तु चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण शीतलता के साथ परमात्मा से विमुख होकर व्याकुल होने वाले आत्मा को कदापि शान्ति नहीं दे सकता। चन्द्रमा की ज्योति अमावस की रात के अंधेरे को दूर कर सकती है, परन्तु वह आत्मा के अंधेरे को दूर नहीं कर सकती। यह अंधेरी रात में चमकने वाले सितारे बहुत अंधेरे को दूर कर सकते हैं, बहुत से भूले-भटके पथिक रात्रि के समय इन सितारों की सहायता से अपना मार्ग पा सकते हैं अथवा समुद्रों में सफर करने वाले जहाज ध्रुव तारे की सहायता से अपनी यात्रा निर्विघ्न रूप से पूरी कर सकते हैं परन्तु जो आत्मा संसार के अथाह सागर में डूब रहा है और गोते खा रहा है, वह इन सितारों की सहायता से इस भवसागर से पार नहीं हो सकता। उसके जीवन के जहाज को ये सितारे किनारे पर नहीं लगा सकते। यह विद्युत अर्थात् बिजली नाना प्रकार से मनुष्य के लिए लाभदायक हो सकती है, बड़े-बड़े कारखाने इसके द्वारा चलाये जा सकते हैं, अमावस की अंधेरी रात के अंधेरे को बिजली का लैम्प दूर कर सकता है परन्तु आत्मा के अंधेरे को यह बिजली की शक्ति भी दूर नहीं कर सकती। अग्नि हमारी शारीरिक रक्षा के लिए एकमात्र बड़ा भारी सहारा है। यदि अग्नि न हो तो हमारा शरीर स्थिर नहीं रह सकता। यह अग्नि या ताप ही है जो हमारे शरीर को स्थिर रखे हुए है। इस उष्णता के कम होने से हमारा शरीर दुर्बल होने लगता है और इसी अग्नि के अधिक हो जाने से हम रोगी हो जाते हैं। तो अग्नि हमारे शारीरिक जीवन की रक्षक है। परन्तु जिस आत्मा में ईश्वर-प्रेम की अग्नि नहीं जल रही वह मृत है। इस मृत आत्मा में वह शारीरिक अग्नि भी कोई तेज नहीं उत्पन्न कर सकती। ईश्वर ही आत्मा का सूर्य है। ईश्वर ही आत्मा का चन्द्रमा है। ईश्वर ही आत्मा के लिए ध्रुव तारा के

सदृश है। ईश्वर-प्रेम ही आत्मा के लिए विद्युत् है। ईश्वर-प्रेम ही आत्मा की अग्नि है, यह बाहर का सूर्य, बाहर का चन्द्रमा, बाहर के सितारे, बिजली और आग ईश्वर को प्रकाश नहीं दे सकते। ये सब प्रकाशमान होते हुए भी इसके प्रकाश के सामने प्रकाशहीन हैं। परन्तु जब मन ही परमात्मा के समर्पण कर दिया जाता है तो अन्दर के कपाट खुल जाते हैं, आवरण दूर हो जाते हैं। ईश्वर-प्रेम का उदय होता है और फिर क्या होता है—

पूषन्ने कर्षे सूर्य, प्राजापत्य ब्यूह।

रश्मीन् समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं—इत्यादि॥

आत्मा के अन्दर उसी की ज्योति का प्रकाश हो जाता है। चारों ओर उसी का प्रकाश दिखाई देता है। जड़ और चेतन में उसी का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। ईश्वर-प्रेम की तरंगें आत्मा के भीतर उठने लगती हैं। ईश्वर-भक्ति का रंग चढ़ने लगता है। मन इस रंग से रंगा जाकर ईश्वर-प्रेम में डूब जाता है और वह एक मतवाले पुरुष की तरह प्रभु के प्रेम में मस्त होकर गाता फिरता है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे॥

(कठोपनिषद् ३।१९)

जैसे बाहर की गर्मी से दग्ध हुआ मनुष्य शीतल जल को पीता और शान्ति प्राप्त करता है, इसी प्रकार इस संसार की दग्ध कर देने वाली अशान्ति इत्यादि, हृदय-दाहक अग्नि से जला हुआ आत्मा ईश्वर-प्रेम के रस को पीता है। ज्यों-ज्यों इस प्रेम-रस को पीता जाता है त्यों-त्यों यह अमर होता जाता है यहाँ तक कि वह इस शरीर में रहता हुआ ही जीवन मुक्त हो जाता है, अब उसके लिए आवश्यकता नहीं रहती कि वह सांसारिक भोगों में रस तलाश करे। सांसारिक भोगों में सम्पूर्ण रस उस ईश्वर-प्रेम के प्रेम रस के सामने फीके हो जाते हैं। अब उसको आवश्यकता नहीं रहती कि वह मृत्यु के पश्चात् किसी स्वर्ग की खोज करे क्योंकि वह जीते जी इसी शरीर में रहता हुआ परमात्मा के प्रेम में डूबा हुआ स्वर्ग में निवास कर रहा है। स्वर्ग क्या है? वह कोई स्थान—

विशेष नहीं है जहाँ भोगों को भोगा जावे, भोग तो रोग लाते हैं। अतः ईश्वर-प्रेम ही स्वर्ग है। उपनिषद् कहता है—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया विभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोका तिगो मोदते स्वर्गलोके।

(कठोपनिषद् १।१२)

जिस अवस्था का नाम स्वर्ग की अवस्था है वह क्या है? वह अभय पद की प्राप्ति है। जब मन ही ईश्वर-प्रेम में डूब गया तो फिर डर किसका रहा? मन ही तो था जिसने अपने बन्धन का घेरा डालकर आत्मा को भयभीत कर रखा था। अब जबकि मन परमात्मा के प्रेम में मग्न है, तो भय का लाने वाला कौन और भय किसका, फिर वह स्वर्ग क्या है? श्रुति कहती है कि वह ऐसी अवस्था है जहाँ मृत्यु की पहुँच नहीं है। जब आत्मा ईश्वर-प्रेम में डूब गया, आत्मारूपी नदी परमात्मारूपी समुद्र में मिल गई तो फिर उसका सड़ने-गलने का क्या डर? जब तक पानी एक घेरे में बन्द रहता है तब तक उसके सड़ने और शुष्क हो जाने का भय रहता है किन्तु जब उसका मुख समुद्र के साथ मिल गया अथवा उसमें शुद्ध व पवित्र जल की धारा बहने लग गई तो फिर इसके गलने-सड़ने या शुष्क होने का क्या भय रहा? जब तक आत्मा एक बिन्दु की तरह संसार को दग्ध कर देने वाली शिला पर गिरता रहता है वह ईश्वर-प्रेम से शून्य रहता है। किन्तु जब परमात्मारूपी समुद्र में गिर गया तो फिर इसके लिए शुष्क होने का क्या भय, वह तो स्वर्ग में पहुँच गया, अमर हो गया। स्वर्ग क्या है? उपनिषद् कहता है कि इसमें तरोताजगी है? मुरझाना या सूखना या बूढ़ा होना नहीं है। ईश्वर-प्रेम क्या है? यही तो स्वर्ग है, ईश्वर-प्रेम कभी बूढ़ा नहीं होता, इसको जितना अधिक बढ़ाते जाओगे उतना ही अधिक आनन्द आता है। जितनी मात्रा में आत्मा ईश्वर-प्रेम में डूब जाता है उतनी ही अधिक मात्रा में वह संसार की भूख-प्यास के ऊपर होता जाता है। जगत के पदार्थ, संसार के भोग इसके लिए रसहीन होते जाते हैं। जितना अधिक वह ईश्वर-प्रेम में बढ़ता जाता है उतना ही अधिक वह दुःख से मुक्ति पा जाता है। उपनिषद्

कहते हैं कि आत्मा की इसी अवस्था का नाम स्वर्ग है, इसी का नाम बहिश्त है। वह स्वर्ग आत्मा के अन्दर विद्यमान है और उसकी चाबी मन के समर्पण करने में है। मन को आत्मा के समर्पण कर दो, इस स्वर्ग का द्वार खुल जायेगा। जब तक मन को परमात्मा के समर्पण नहीं किया जाता है तब तक तन और धन समर्पण करने से कुछ भी नहीं बनता। कितने ही मनुष्य हैं जो अपनी इन्द्रियों को स्वयं की कठिन साधनों द्वारा निर-इन्द्रिय कर देते हैं, कितने ही मनुष्य हैं जो अपने सर्वस्व धन का स्वाहा कर देते हैं, दान कर देते हैं अथवा जुए में गँवा देते हैं परन्तु क्योंकि उनका मन ईश्वर के समर्पण नहीं होता इसलिए तन और धन का बलिदान करके भी वे ईश्वर-प्रेम से वंचित रहते हैं। यदि मन का बलिदान हो जाए, मन को परमात्मा के समर्पण कर दिया जाय तो फिर सब प्रकार का बलिदान सफल हो जाता है और मनुष्य जीते-जी ईश्वर-भक्ति में रंगकर जीवन-मुक्त हो जाता है।

ईश्वरोपासना

जब तन, मन और धन तीनों ही परमात्मा के अर्पण हो गए तब वह अवस्था आती है जब मनुष्य एक शिष्य भाव से परम गुरु परमात्मा के निकट होकर उससे याचना करता है कि 'हे गुरु! मेरा कुछ भी नहीं है और मैं कुछ भी नहीं हूँ, जो कुछ है तू ही है। हे परमात्मन्! मेरी विद्या, मेरी बुद्धि तुच्छ है, मेरा बल कुछ भी नहीं है। हे ज्ञान के भण्डार! तुम अपने ज्ञान से मेरे आत्मा को उज्ज्वल करो।' इस प्रकार जब एक रिक्त और शुद्ध मन से परमात्मा की उपासना की जाती है तो इसका अवश्य ही फल मिलता है। परन्तु शर्त यही है कि परमात्मा के पास मनुष्य शिष्य भाव से जाय। क्योंकि जो अपने आपको पहले ही भरा हुआ समझता है उसमें दूसरी वस्तु कहाँ से समा सकती है? जो अपने आपको पहले ही ज्ञान से भरपूर देखता है उसको ईश्वरीय ज्ञान कहाँ से प्राप्त हो सकता है? परमात्मा के दरबार में एक कोरी चादर की न्याई जाने की आवश्यकता है, ताकि इस पर ईश्वर-भक्ति का रंग चढ़ सके। जिसका

मन अशुद्ध है जिस पर संसार के रंग चढ़े हुए हैं उस पर ईश्वर-भक्ति और ईश्वर-प्रेम का रंग कैसे चढ़ सकता है ? उपनिषद् कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुँस्वाम्॥

(कठोपनिषद् ५।२१)

ईश्वर-प्राप्ति का साधन क्या है ? अर्थात् हम ईश्वर को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? श्रुति कहती है कि यदि हम चाहें कि इसके बारे में केवल सुनने मात्र से ही हम इसको प्राप्त कर सकते हैं तो ऐसा नहीं है। यदि हमको हमारी बुद्धि का भरोसा है कि हम बुद्धि के बल से परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं तो ऐसा भी नहीं हो सकता। तर्क-वितर्क से भी हम उसके दर्शन नहीं कर सकते। उसके दर्शन करने का एक मात्र साधन है और वह है उसकी उपासना। जैसा कि मैंने पहले कहा है कि ईश्वर के पास एक शिष्य रूप में जाना चाहिए। नम्र भाव से हम परमात्मा के दरबार में प्रार्थना करें ताकि उसकी हम पर कृपा हो और वह हमें अपने दर्शन का अभिलाषी समझे, क्योंकि परमात्मा की ही कृपा से हम उसके दर्शन कर सकते हैं। जब हमारा तन, मन और धन सब कुछ ही उसके समर्पण हो गया तो निःसन्देह वह हम पर अपना आशीर्वाद करते हैं और उनकी भक्ति और प्रेम का रंग हमारे ऊपर चढ़ने लगता है यहाँ तक कि हम उस रंग में रंग जाते हैं।

परा और अपरा भक्ति

जिस भक्ति का वर्णन किया गया है वह दो प्रकार की है— एक परा-भक्ति और दूसरी अपरा-भक्ति। परा-भक्ति केवल परमात्मा के लिए है और अपरा-भक्ति परमात्मा की प्राप्ति के लिए सांसारिक पदार्थों की भक्ति है। अपरा-भक्ति भी दो प्रकार की है— प्रथम मनुष्य के चेतन सम्बन्धों के लिए भक्ति, द्वितीय जड़-पदार्थों के लिए भक्ति। चेतन सम्बन्धों के लिए भक्ति क्या है ? वह यह है कि माता-पिता के साथ हमारा प्रेम हो, उनके लिए हमारे हृदय में आदर हो, हम उनकी सेवा करें, उनकी आज्ञा का पालन करें, उनको आनन्दित रखें। इसी प्रकार

संतान के लिए हमारे हृदय में प्रेम हो, हम उनकी अच्छी प्रकार पालना करें। भाइयों के लिए हमारे हृदय में प्रेम और भक्ति हो। पति के मन में स्त्री के लिए और स्त्री के मन में पति के लिए प्रेम और भक्ति हो। दोनों परस्पर प्रेम और प्रीति से रहें, एक-दूसरे का आदर सत्कार करें, एक-दूसरे का मान करें, गृहस्थ के कामों को प्रीतिपूर्वक निभायें। इसी प्रकार सेवक के हृदय में स्वामी के लिए प्रेम और भक्ति हो, स्वामी के मन में सेवक के लिए प्रेम और भक्ति हो। इस भक्ति का घेरा विस्तृत होता जाय, राजा के लिए भक्ति हो, देश के लिए भक्ति हो, देश भाइयों के लिए भक्ति हो, मनुष्यों के साथ-साथ पशुओं के लिए भी हमारे मन में प्रेम हो। दूसरे सांसारिक पदार्थों के लिए हम परमात्मा से प्रार्थना करें कि हमारी कीर्ति फैले, हमारा यश बढ़े, हमारा तेज अधिक हो, हम ब्रह्मतेज को प्राप्त करें, हमारी भुजा में बल आए, हमारे पशु अधिक हों, हमारा भवन सुन्दर हो, स्वच्छ हो। क्योंकि जब तक हमारे आस-पास के सभी साधन और सभी सम्बन्ध ठीक नहीं होते तब तक हम परमात्मा की भक्ति में कैसे मन लगा सकते हैं? यदि गृह साफ हो, सुथरा हो, उसकी वायु अच्छी हो, एकान्त हो, किसी प्रकार का कोलाहल न हो तो वहाँ ईश्वर का ध्यान करने से स्वयमेव आनन्द आता है।

यदि घर गंदा है एक ओर गोबर पड़ा है, दूसरी ओर कोई दूषित वस्तु पड़ी है, कोलाहल हो रहा है तो वहाँ ईश्वर का ध्यान कैसे हो सकता है और क्योंकर हो सकता है? इसी प्रकार यदि हमारे सम्बन्ध ठीक नहीं हैं, घर में लड़ाई-दंगा रहता है, बाहर वालों के साथ लड़ाई है, झगड़े हैं, इधर बच्चे रो रहे हैं, उधर स्त्री नाराज है, वहाँ पर हम ईश्वर का ध्यान कैसे कर सकते हैं? शास्त्र बताते हैं कि मनुष्य जिस प्रकार की अवस्था में रहता है, उसी प्रकार का उस पर रंग चढ़ता जाता है। यदि उसके आस-पास शान्ति है, प्रेम और भक्ति का समुद्र मौज मार रहा है तो वह स्वयं भीतर और ऊपर शान्त रहता है। यदि ऐसा नहीं है तो वह लाख यत्न करके भी ईश्वर को प्राप्त नहीं हो सकता। मैंने कहा है कि भक्ति दो प्रकार की है—परा-भक्ति अर्थात् मनुष्य का ईश्वर के साथ सम्बन्ध और

दूसरे, मनुष्य का आस-पास के पदार्थों या अन्य जीवों के साथ सम्बन्ध। यदि यह दोनों प्रकार की भक्ति हम में आ जाय, तो फिर जीते जी मुक्ति का आनन्द पा सकते हैं, हमारे सारे क्लेश दूर हो सकते हैं, ईश्वर का दर्शन साक्षात् हो जाता है। ईशोपनिषद् में कहा है—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

जब तक केवल संसार और सांसारिक पदार्थों की भक्ति, सांसारिक पदार्थों की चमक-दमक आत्मा को दबाये रखती है तब तक वह परमात्मा का दर्शन नहीं कर सकता। किन्तु जब उसके ऊपर से ये आवरण दूर हो जाते हैं तब उसको सत्य का ज्ञान होता है, उसको ज्ञात हो जाता है कि उसका कर्तव्य क्या है? तब ईश्वर-भक्ति को, ईश्वर-प्रेम को ही अपने जीवन का धर्म समझता है। ईश्वर-प्रेम की तरंगें उसके अन्दर उठने लगती हैं, ईर्ष्या और द्वेष के बादल उसके अन्दर से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वह सबको मित्र की दृष्टि से देखने लगता है, उसके लिए न कोई मित्र रहता है, न शत्रु। मनुष्य स्वयं ही ईश्वर-भक्त की ओर आकर्षित होने लगते हैं। ऐसे ही ईश्वर-भक्त का जीवन संसार के लिए कल्याणकारी हुआ करता है और ऐसे ही ईश्वर-भक्त जो रात-दिन परमात्मा की भक्ति और प्रेम में मग्न रहते हैं, जीवन-मुक्त होते हैं। ईश्वर-भक्ति या ईश्वर-प्रेम अथवा भक्ति-योग का यही परिणाम है कि वह आत्मा का परमात्मा के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ कर इसको जीते जी मुक्ति तक पहुँचा देते हैं। इस जीवन-मुक्ति को प्राप्त करना ही भक्ति-योग है। परमात्मा हम पर आशीर्वाद करें कि हम पर उनकी भक्ति का अधिक से अधिक रंग चढ़ सके, हमारे हृदय में उनके लिए प्रेम उत्पन्न हो और हम अपने मन को, तन को, धन को और सारे जीवन को उनके समर्पित कर सकें।



2

कर्मयोग

ईश्वर-प्रार्थना

हे परमेश्वर ! आप सोम हैं, सबसे प्रिय हैं, इस संसार में जितनी वस्तुएँ आकर्षण करने वाली हैं, उन सबका केन्द्र आप ही हैं। आप सदैव रहने वाले हमारे स्वामी हैं, इस प्रकार आपका मंगलमय हाथ सदैव हम पर रहता है। परमात्मन् ! आप भद्र हैं। आपकी शरण में जो पुरुष आते हैं— उनका कल्याण होता है। आप ही इस संसार के यज्ञेश्वर हैं। केवल आप ही धर्म की शिक्षा देने वाले हैं। इस संसार में जहाँ कि हमारे कानों को कठोर वाणियाँ दग्ध करती हैं, केवल आपकी ही वाणी है, जिससे शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए हे देव ! आप हमें अपना मंगलमय उपदेश दो, हमें इस संसार में शुभ और श्रेष्ठ उपदेश दो जिससे हम सब का भला हो। इस सम्पूर्ण संसार की सुख-सम्पत्ति के स्वामी ! आप हमें वह सम्पत्ति दो ताकि आप के मार्ग पर चलकर हम दीन-हीन और क्षीण अवस्था में न रहें और हमारी अवस्था उच्च हो।

प्रभु! यदि आपकी इच्छा और सहायता हमारी सहकारी न हो तो हमें कभी भी हमारे कामों में सफलता न होगी। इसलिए हम निश्चयपूर्वक इस बात को जानते हैं कि मानसिक, आत्मिक और सारे के सारे सुख आप ही से प्राप्त होते हैं, आप सुख के सागर हैं, सुख की एक मात्र खान हैं। इसलिये हे भगवान ! हम आपकी वन्दना और याचना करते हैं, आपको नमस्कार करते हैं। हे हमारे आत्मा की ज्योति ! आप हमारे आत्मा को

प्रकाशमान करें, हमें अच्छा उपदेश दें जिससे हमारा लाभ हो, हमें सुख प्राप्त हो और धर्म के मार्ग से हमारा पग तनिक भी न डगमगाये। यही प्रार्थना है— स्वीकार कीजिए।

कर्मयोग की महिमा

कर्मयोग एक ऐसा सहज विषय है, जिसमें सम्भव है कि मैं आपके सामने कोई नई बात न रख सकूँ और आपको यह विषय शुष्क दिखाई दे, क्योंकि कर्मयोग एक ऐसी बात है जो कि नित्य की जाती है। हमारे प्रतिदिन के कर्तव्य कर्मयोग में शामिल हैं। यज्ञों की क्रियाएँ कर्मयोग हैं। हमारे शास्त्र बतलाते हैं कि जो यज्ञ करता है, वह स्वर्गलोक में जाता है— ऐसा स्वर्गलोक, जहाँ दुःख का चिन्ह किंचितमात्र भी दिखाई नहीं दे। हमारे यहाँ यज्ञशील और कर्मशील होने की बड़ी महिमा गाई है। जो कोई संसार में धर्मानुकूल अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है, वह एक यज्ञ कर रहा है, इसलिये वह यजमान है। यजमान का स्थान स्वर्ग से ऊँचा है, उसके आनन्द की सीमा नहीं। उसकी लड़की के हाथों में कंगन पड़ जायें, लड़के की अंगुलियों में मुद्रिका पहिना दी जायें, हजारों और लाखों की सम्पत्ति हो जाय उससे कोई आनन्द नहीं आता उस आनन्द की तुलना में, जो उसे कर्तव्य के पालन में आता है।

हमारे शास्त्रों में निष्काम यज्ञ की प्रशंसा की गई है और वर्णन किया गया है कि देवताओं को पुष्ट करना चाहिए। हवन आदि यज्ञों से देवता पुष्ट होते हैं, निष्काम कर्मों से देवता प्रसन्न होते हैं। क्या हवन आदि यज्ञों में कुछ कम निष्कामता है? इसी प्रकार एक पुरुष दान देता है और अपने लहू-पसीना को एक करके अर्जित आय में से धन बाँट देता है। एक पचास रुपया मासिक का नौकर इतनी थोड़ी आय में से अपने सारे परिवार का निर्वाह करता है— यह भी एक यज्ञ है, जिसमें केवल यजमान का कर्तव्य पालन करना है। यजमान की प्रत्येक वस्तु संसार के लिए है। यजमान का प्रत्येक काम निष्काम भाव से होना चाहिए। इसीलिए वेद कहता है कि यजमान वह है जो स्वर्ग से ऊँचा रहता है और देवताओं को प्राप्त होता है। वेद बतलाता है कि ऐसे यजमान के लिए ऊपर से घृत की

आहुति होती है। नदियाँ इसके खेतों को हरा-भरा और तरोताजा करती हैं, वर्षा का पानी इसके खेतों और बागों को पुष्टि देता है, ठण्डी और शीतल हवायें इसके जीवन का सहारा होती हैं, परमात्मा की ओर से यजमान के लिए यह सांसारिक सुखों की दक्षिणा हैं।

वेद बार-बार बतलाता है कि यजमान होना, कर्मकांडी बनना, कर्मयोगी होना बड़ा ही उत्तम है। यजमान को इस लोक और परलोक में सदैव ही सुख मिलता है।

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ मंत्र में कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा की गई है। परमात्मा उपदेश करते हैं कि यदि किसी मनुष्य को जीने की इच्छा है तो वह कभी भी परोपकार से शून्य होकर जीवन व्यतीत न करे, उसका सारा जीवन-धर्म, परोपकार और पुरुषार्थ करते हुये व्यतीत हो। चारपाई पर बैठकर ही जीवन व्यतीत न कर दे। हर समय आलसी लोगों की भांति मुँह से मक्खियाँ ही न उड़ाता रहे, प्रत्युत् धार्मिक कार्यों में ऐसा व्यस्त रहे कि उसे एक पल का भी अवकाश न मिले, किन्तु सांसारिक झगड़ों में कदापि न लिप्त हो। संसारी विषय-भोग में लेशमात्र भी न उलझे। इसलिए वेद में परमात्मा कहते हैं—

हे मनुष्य ! तेरी सफेद चादर पर कभी धब्बा न लगे, तू हमेशा कर्म करता रहे, कहीं तुझे लपेट (लेप) न लगेगा। इस उपदेश की व्याख्या करते हुए दृष्टान्त दिया गया है कि जिस प्रकार कमल का फूल कीचड़ और पानी में उगता और रहता है किन्तु इस पर कीचड़ और पानी का लेप नहीं लगता बल्कि वह सदा ऐसा स्वच्छ और मनमोहक बना रहता है कि उसको देखकर प्रत्येक का मन लुभायमान हो जाता है इसी प्रकार वेद में शिक्षा दी है कि मनुष्य कर्मों को करता हुआ पापों से बचा रहे।

कर्मयोग क्या है ?

‘कर्मयोग’ शब्द का किसी विशेष क्रिया या कर्म पर प्रयोग नहीं होता, बल्कि सब नैतिक और नैमित्तिक कर्म यज्ञादि सब कर्तव्य-कर्म कर्मयोग के अन्तर्गत आते हैं। पूर्ण रीति से कर्तव्य का पालन करना कर्मयोग है। जैसे मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है कि प्रातःकाल उठकर ध्यान करे, चाहे वह

दस मिनट में ध्यान क्यों न समाप्त करता हो, किन्तु उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ध्यान के समय चाहे कैसा ही अत्यावश्यक काम क्यों न हो ध्यान को परित्याग न करे। लेकिन हम इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। यदि मित्र आ गये और इधर ध्यान का समय हो गया तो हम इस समय मित्रों से पृथक् होना कभी पसन्द न करेंगे और उनके आने को उचित समझ कर ध्यान का पवित्र समय व्यर्थ वार्ता में गँवा देंगे, इसका नाम कर्मयोग नहीं है।

इसी प्रकार कोई मनुष्य सत्संग करता है। वह इस समय को किसी भी दशा में न गँवाये, चाहे कैसी ही जोर से बारिश हो रही हो, कैसी आँधी चल रही हो, किन्तु सत्संगी पुरुष भीगता हुआ सत्संग में आ रहा हो, यह है कर्मयोग की भावना। ऐसे दृढ़ श्रद्धालु और सच्ची भक्ति के मनुष्य कर्मयोग की महिमा को समझ सकते हैं किन्तु वह मनुष्य कदापि कर्मयोग की फिलॉसफी (दर्शन) को नहीं समझ सकता जो साधारण से मित्रों के लिये अपने पवित्र कर्मों को बलिदान कर देता है।

इसमें सन्देह नहीं कि ये बातें आपको सामान्य प्रतीत होंगी, किन्तु ये ही बातें हैं जिनको पालन करने से मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकता है।

तीन अनुकरणीय बातें

हम प्रतिदिन ध्यान करते हैं, किन्तु हमने कभी उसके मूल उद्देश्य पर विचार नहीं किया। ऐसी उदासीनता में किसी बड़ी से बड़ी बात का भी क्या लाभ हो सकता है? ध्यान करते समय प्रत्येक मनुष्य को इन तीन बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए—

(1) मनुष्य तू अपने किये को स्मरण रख। प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों को स्मरण रखना चाहिए, क्योंकि कर्म ही हैं जो किसी मनुष्य को पार उतार सकते हैं। शुभ कर्म ही मनुष्य के वास्तविक पारितोषक हो सकते हैं जिनके आश्रय पर उसको अपनी यात्रा को पूर्ण करना है। जब तक मनुष्य के पास धन-दौलत है, सब उसके साथी हैं। किसी कवि ने क्या अच्छा कहा है—

घर पकियाँ दे अंग—संग सारे।

कोई भुक्खियाँ दा नहीं यार बनदा॥

किन्तु जब मनुष्य अपने कुसंस्कारों के कारण धन—मान को खो बैठता है। तब कोई भी मित्र या साथी उसका साथ नहीं देता। इसी भाव को लेकर एक महात्मा ने मनुष्य को डाँटा है कि तू स्मरण करता है उन मनुष्यों को जो तेरी आत्मा को बिगाड़ते हैं। इसलिए पहली बात यह है कि हम अपने किए को स्मरण करें।

हम प्रत्येक दिन व्यतीत होने पर अपने कर्मों का निरीक्षण करें। हम विचार करें कि वह मनुष्य जो सड़क पर भूख से बिलबिला रहा था, हमने उसके साथ क्या सहानुभूति की। यदि हमारी जेब में कुछ न था तो हमने अपनी वाणी की मधुरता से कहाँ तक उससे सहानुभूति प्रकट की और आँखों से किस मात्रा तक करुणा के अश्रुपात किए ?

(2) हमने आज क्या—क्या पाप किए हैं, कितनी बार मनुष्यों को दुःख दिया है।

(3) हमने क्या पुण्य किया है ? कितने दुखियों को देखकर उनके लिए आँसू बहाए हैं, कितने भूखे और प्यासों को देखकर उनको शान्त किया है, पापियों को देखकर कितनी बार उनके लिए शुभकामना उत्पन्न हुई है। इसी प्रकार पुण्य और पाप की प्रतिदिन तुलना करके पाप से बचने का प्रयत्न किया जाये।

यही कर्मयोग का प्रथम 'गुरु मंत्र' है। इससे मनुष्य उन्नति के शिखर पर चढ़ सकता है। यद्यपि ये कोई गहरी फिलॉसफी की बातें नहीं हैं, किन्तु वह मनुष्य जिसने क, ख नहीं सीखा, वह महर्षि कणाद की गहरी फिलॉसफी को नहीं जान सकता। इसमें संदेह नहीं कि ऊपर लिखित बातें मोटी और क, ख की न्याई हैं, किन्तु विश्वास रखो कि इनमें सारी फिलॉसफी बन्द है। यदि हमने मोटाई को नहीं समझा तो बारीकी कदापि हमारे अन्दर नहीं आ सकती।

बस, मैंने आपको इस समय तीन बातें बतलाई हैं—

(1) अपने कर्मों का चिन्तन करें।

- (2) सदैव अच्छे कर्म किए जाएँ।
- (3) पाप का त्याग किया जाय और पिछले के लिए प्रायश्चित्त किया जावे।

प्रायश्चित्त क्या है ?

जो पाप किये हैं, उनको देखकर पश्चाताप करना और भविष्य में उनसे बचने की प्रतिज्ञा करना प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त का केवल यह अर्थ नहीं कि उपवास करा देना, सिर मुंडवा देना, प्रत्युत् पाप से घृणा करना और पिछले किए पर शोक करना ही सच्चा प्रायश्चित्त है। एक मनुष्य जो पाप करके पश्चाताप कर रहा है और अनुताप की अग्नि से अपने मन को जला रहा है, क्या यह उसके लिए कुछ कम दण्ड है। जो दुःख परमात्मा की ओर से मिलता है, सम्भव है कि उससे कुछ लाभ न हो किन्तु जिस दुःख को हम स्वयं स्मरण कर-कर के लाते हैं वह मन की मैल इस प्रकार धोकर निर्मल कर देगा जिस प्रकार धोबी की भट्ठी कपड़े से मैल को स्वच्छ कर देती है। पश्चाताप एक शक्ति है जिससे हमारे मानसिक कर्म शुद्ध हो जाते हैं। शास्त्र में बतलाया है कि जिस प्रकार सोने की मैल स्वर्णकार भट्ठी में चढ़ा कर उतार लेता है, इसी प्रकार हमारी मानसिक और आत्मिक मैल प्रायश्चित्त रूपी भट्ठी में दग्ध होकर हमारा आत्मा पवित्र और निर्मल हो जाता है। हमारे शास्त्र बतलाते हैं कि जैसा कोई कर्म करता है, वैसा ही उसको फल मिलता है, जैसा कोई हाथ-पाँव हिलाता है, वैसा ही उसके आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। हमारे कर्मों का अधिकांश प्रतिबिम्ब हमारे आत्मा पर पड़ता है। जिस प्रकार श्वेत कपड़े को जिस रंग में रंगा जाय, वही रंग उस पर चढ़ जाता है, इसी प्रकार हम जिस किस्म का काम करेंगे उसका वैसा ही प्रभाव हमारे आत्मा पर होगा। पाप से आत्मा मलिन होगा और पुण्य आत्मा को स्वच्छ और निर्मल बना देगा।

पाप जब पहले छोटा होता है तो ज्ञात नहीं होता, किन्तु जब बड़ा होकर पर्वत सा ज्ञात हो जाता है तो फिर इससे सिर टूटता है और पश्चाताप होता है कि ओहो ! हमने अच्छा कर्म क्यों नहीं किया ?

हम स्वयं अपने प्रारब्ध को बनाते हैं

प्रायः लोग रोया-चिल्लाया करते हैं कि हमारे प्रारब्ध में यह न था और वह न था, इसमें हमारा क्या दोष है? किन्तु मैं कहता हूँ कि यह बात उचित नहीं है। हम स्वयं ही अपने प्रारब्ध को बिगाड़ने और बनाने वाले हैं। यदि हमारे कर्मों का मन्दिर साफ और सुथरा है तो जो कोई हमारे निकट आयेगा उसको भी आनन्द होगा और हमें भी प्रसन्नता प्राप्त होगी, किन्तु, यदि कर्म शुभ नहीं तो जो हमारे पास आयेगा, नाक-मुँह चढ़ायेगा। आप बतायें इसमें परमात्मा का क्या दोष है? क्या आप संसार में नहीं देखते कि जहाँ प्रतिदिन 'धर जा मर जा' की माला फिरती है, जहाँ सदैव ईर्ष्या की अग्नि जलती है, वहाँ भस्म के अतिरिक्त और क्या रह सकता है? अतः यदि हमारे सम्पूर्ण कर्म शुभ होंगे, तो हमारा भाग्य भी उज्ज्वल होगा, हमारा हृदय और मस्तिष्क भी स्वच्छ और निर्मल होगा।

धर्म का तेज

इसी प्रकार जो चित्र हो, वह अपने में पूरा हो। जैसे स्वामी दयानन्द के चित्र को देखकर प्रत्येक सच्चा मानव प्रसन्न होता है। कैसा वैराग्यमय शान्त चित्र है! किन्तु जिनके मन में सदैव राग-द्वेष रहता है, जिनका मन ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि से दग्ध रहता है, उनका मुख हर समय सुस्त और मुझाया रहता है। उनका चित्र कभी पूर्ण नहीं हो सकता। आपने कई बार अनुभव किया होगा कि धर्ममूर्ति भक्त को देखकर मन कैसा प्रसन्न होता है, किन्तु यदि उसी भक्त को एक साहिब बहादुर वाला टोप और पतलून पहनाया जाय तो उसकी वह शोभा नहीं रहेगी। बजाय इसके एक अंग्रेज को टोप और पतलून शोभा देता है। एक हब्शी के सिर पर पगड़ी बुरी मालूम होती है, किन्तु हम देशियों के लिए पगड़ी एक शोभा है। इस प्रकार जो मनुष्य अपने कर्मों में पूरा है चाहे उसका शरीर कैसा भी भद्दा क्यों न हो, उसमें एक शक्ति होती है, जिससे प्रत्येक मनुष्य का मन उससे मिलने को चाहता है। तो मैंने बतलाया कि रमणीय आचरण करने वाला मनुष्य उपकार की मूर्ति बन जाता है। जब वह बोलता है मानो पुष्पों की

वर्षा होती है, जब उससे किसी की भेंट होती है तो दूसरे का चित्त प्रसन्न होता है, क्या यह कोई कम श्रेणी की शक्ति है ?

कर्मा का नाश नहीं हो सकता

श्री कृष्णजी गीता में उपदेश देते हैं— 'जो मनुष्य कर्तव्य कर्म करता हुआ अधूरा छोड़ जाता है उसका कर्म नष्ट नहीं होता और वह योगियों के घर जन्म लेता है।' महात्मा बुद्ध ने कहा है कि भगवान के मार्ग पर एक भी पग उठाना मंगल और कल्याण का कारण है। जो बीज एक बार बोया गया वह कभी न कभी अवश्य वृक्ष बनकर फल लायेगा। इसी प्रकार एक और स्थान पर भी बताया है कि जो मनुष्य कर्म करता हुआ यह संसार छोड़कर चला जाता है वह योग-भ्रष्ट व्यक्ति शुचि कुल में जन्म लेता है अर्थात् उसका जन्म ऐसे पवित्र योगियों के कुल में होता है, जिनके नाम से दग्ध हृदयों को शान्ति प्राप्त होती है। मेरा आशय उन योगियों से नहीं जो लड़के का जन्म होते ही उसके हाथ में भिक्षापात्र देकर भिक्षा करने भेज देते हैं। इस प्रकार की शिक्षा को हमारे शास्त्रकार निन्दनीय बतलाते हैं। वे कहते हैं कि भूखा क्या-क्या पाप नहीं करता और वास्तव में यह है भी ठीक। जिसके पेट में रोटी नहीं, वह कर्मयोग क्या कर सकता है ? इसीलिए एक कवि परमात्मा को सम्मुख करके कहता है— 'हे प्रभु ! आपने जिह्वा दी है इससे हम आपकी स्तुति करते हैं, हाथ दिये हैं उनको परोपकार में लगाते हैं, पाँव दिये हैं उनसे चल कर हरि-कीर्तन में जाते हैं, परन्तु 'पेट दियो पर पाप लगायो' यह पेट है जो पाप की ओर ले जाता है।' इस संसार में भूखे और निर्बल का कोई ठिकाना नहीं। वह कमजोर और दुर्बल पुरुष जो एक धक्के से तीन बल खाता है धर्म क्या कर सकता है ? उसके शब्द में बल और शक्ति नहीं हो सकती, आत्म-सम्मान का भाव उसमें रह नहीं सकता, उसकी प्रत्येक बात से चाटुकारिता की गंध आयेगी, वह अपनी रक्षा के लिए कई प्रकार से असत्य बोलेगा। तो मैंने आपको बतलाया कि महात्मा कृष्ण गीता में उपदेश करते हैं कि यज्ञ कर्म को अधूरा छोड़ने वाला मनुष्य भी ऐसे गृह में जन्म लेता है कि जो सदैव श्रीमान् और सम्पन्न हैं, जिन्हें धन की कुछ

चिन्ता नहीं। अथवा यदि धनवान् नहीं तो वे ऐसे योगी और योगेश्वर हैं जिनके द्वार पर श्रीमान् धक्के खाते फिरते हैं।

कर्मयोग के ऐतिहासिक दृष्टान्त

यहाँ तक बतलाने के बाद मैं आपको कर्मयोग की महिमा के कुछ दृष्टान्त इतिहास में से सुनाता हूँ। इस समय तक इतिहास में तीन बड़े कर्मयोगी हुए हैं जिनको सम्पूर्ण संसार जानता है। उनमें से पहला कर्मयोगी श्रीराम है। श्री रामचन्द्र जी ने कोई लम्बे-चौड़े उपदेश नहीं किए। वाल्मीकि रामायण में शायद एक-दो जगह ही उनका उपदेश है, वह भी लक्ष्मण और भरत जी को। लेकिन आज दुनिया उनको अवतार मान रही है। श्री रामचन्द्र जी ने कोई ऐसा तप नहीं किया, किन्तु उन्होंने कर्मयोग के द्वारा अपने जीवन को ऐसा पवित्र बनाया था जिससे प्रत्येक युवक राम का चित्र आगे रखकर अपने जीवन को सफल कर सकता है। परन्तु यह तभी हो सकता है जब हम सच्चे चित्रकार बनना सीखें और राम का चित्र अपने जीवन में उतार लें। राम के चित्र की नहीं, चरित्र की पूजा करें।

दूसरी मूर्ति जो हृदय में धारण करने योग्य है, वह महात्मा बुद्धदेव की है। उन्होंने भी कोई लम्बा उपदेश नहीं किया, प्रत्युत् आचार्य बनकर विश्व को बतलाया है कि कर्मयोग इस प्रकार किया जाता है। बुद्धदेव के बाद शंकराचार्य हुए, किन्तु वह अधिकांशतः विज्ञानी थे। उनके पश्चात् श्री आनन्दकन्द ऋषि दयानन्द आए जिन्होंने कर्मयोगी का पूर्ण आदर्श प्रस्तुत किया। उनका जीवन कर्मयोग की मूर्ति है।

व्रत का महत्व

कर्मयोग में व्रत की क्या आवश्यकता है? इसका एक दृष्टान्त आपको श्री रामचन्द्र जी के जीवन में मिलता है। जब ऋषि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा का व्रत धारण करके राम और उनके छोटे भाई लक्ष्मण वन को गये तो वे निरन्तर कई दिनों तक जागते रहे और व्रत का पालन किया। तपस्वी दयानन्द यमुना के किनारे बर्फ में तपस्या कर रहे थे। क्या किसी के शरीर में इस प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो सकती है? लोग कहा

करते हैं कि पूर्ण ब्रह्मचारी के शरीर में यह शक्ति आ जाती है, किन्तु मेरा उनसे मतभेद है। अत्यधिक सर्दी बड़े से बड़े बलवान् के रुधिर को जमा देती है। यह योग का ही बल है कि बर्फ में बैठकर योगी लोग तपस्या करते हैं।

ऋषि दयानन्द वहाँ से बहुत दूर थे जहाँ कि विषयेन्द्रियों की नदी बहती है। उन्होंने व्रत के महत्व को पूर्णतया अनुभव किया हुआ था, कर्मयोग की महिमा उनके रोम-रोम में रम रही थी। वह आजकल के प्रायः उन लोगों की तरह न थे जो कहते हैं कि हम तो हर समय साधना पर उपदेश देते हैं, पुस्तकें छापते हैं, साधना पर ही हर समय वार्ता करते हैं तो हमें साधना करने की क्या आवश्यकता है ? ऋषि दयानन्द शास्त्र के इस वाक्य को अपने कर्म द्वारा मानते थे कि साधारण लोग ऊँची पगडण्डियों का अनुकरण करते हैं।

यदि उपदेशक, पुस्तकों के कर्ता ही धर्म-कर्म में शून्य हैं, यदि वे स्वयं ही साधना नहीं करते, तो उनका उपदेश लोगों पर क्या प्रभाव डाल सकता है और वे कर्मयोग की महिमा को क्या खाक समझ सकते हैं ? तो मैंने बतलाया कि जिन्होंने व्रत के महत्व को समझा है, जिन्होंने कर्मयोग की महानता को अनुभव किया है उनके कर्म उत्तम हैं। शास्त्र ने बतलाया है कि तुम स्वयं ही अपने प्रारब्ध के निर्माता हो। चाहे अपने हृदय के दीपक को प्रज्वलित कर लो, चाहे अंधेरा रखो, चाहे अपने दुःखों को बढ़ा लो, चाहे उनको सुखों में परिवर्तित कर दो।



3

ज्ञानयोग

प्रभु विनय

हे सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर ! हम आपके समीप उपस्थित होकर आपकी वन्दना करते हैं। परमात्मन् ! आपको अपने हृदय में बैठाकर अपने संकल्पों से नमस्कार करते हैं। हे ईश्वर ! जिस हृदय में आप विराजमान होते हैं उसके अज्ञान और अविद्या का नाश हो जाता है। जिस हृदय में आपका प्रवेश होता है वहाँ सम्पत्ति और ऐश्वर्य अपने आप आते हैं। जिस हृदय-मन्दिर में आपकी विशाल मूर्ति पूजी जाती है संसार में उसको किसी से भय नहीं रहता। वे ही हृदय ईर्ष्या-द्वेष से दग्ध रहते हैं, जिनके हृदय-मन्दिर में आपकी पूजा नहीं होती, जिनमें आप विराजमान नहीं, जिन्हें आपकी उपस्थिति का भान नहीं। परमात्मन्! आप संसार की सम्पूर्ण ऋद्धियों और सिद्धियों का साधन हैं, आपसे हम प्रार्थना करते हैं, आइये भगवन्! हमारे हृदय में विराजमान हूजिये ताकि ईर्ष्या और द्वेष दूर हो जायें और हमारे हृदयों में शान्ति और प्रेम का राज्य हो। प्रभु ! दया करो अपने भक्तों पर ताकि कोई सांसारिक भय उनको कम्पायमान न कर सके। इतनी शक्ति दो जिससे डांवाडोल पाँव धर्म-पथ में स्थिर हो जायें। परमात्मन्! हमें वह बल दो जिससे हमारा आत्मा बलवान् हो जाये और प्रत्येक सभासद आपकी आज्ञा का पालन कर सकें। हमारे अंगों और उपांगों में आप ही रम रहे हो। परमेश्वर ! हम हर जगह आपको देखें, आपको सुनें और आपको समझें। परमात्मन् ! हम गद्गद् प्रसन्न

होकर अपने हृदय-मन्दिर में आपको बुलाते हैं। परमेश्वर! विराजमान हूजिये! भगवन्! आइये और विराजमान हूजिये।

ज्ञानयोग क्या है ?

संसार में बहुत मनुष्य ऐसे होते हैं जिनको भक्ति अधिक प्रिय नहीं होती। कर्मयोग द्वारा उनसे लंबी-चौड़ी साधना भी नहीं हो सकती है, लेकिन उनका अन्तःकरण बड़ा स्वच्छ होता है। इसलिए वह परमेश्वर को ज्ञान से जानने का प्रयत्न करते हैं। परमात्मा कहते हैं कि ऐसे मनुष्यों के लिए भी मेरा द्वार खुला हुआ है, वे भी मुक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। वेद में बतलाया गया है कि मनुष्य को 'पुरुष' क्यों कहा जाता है। कहते हैं, जो प्राणी परमेश्वर की नगरी को जानता है वही 'पुरुष' है। जो पुरुष अमृत से परिपूर्ण ब्रह्म की नगरी को जानता है, जिसमें दुःख और क्लेश नहीं है, उसके आत्मिक चक्षु खुल जाते हैं, उसको विवेक हो जाता है। जीवन में उसको आनन्द प्राप्त होता है। कोई सांसारिक सुख उससे मुँह नहीं छिपाता, प्राण उसकी रक्षा करते हैं, बुढ़ापा कभी उसके पास नहीं फटकता। जो प्राणी परमेश्वर की नगरी को जानता है, वही 'पुरुष' है।

परमेश्वर की नगरी कैसी है ?

इस नगरी में पाँच प्राण, आठ चक्र और नौ द्वार हैं। वह अयोध्या है, कोई भी इससे युद्ध करने के योग्य नहीं। संसार में कोई चाहे कितना ही बलवान् पहलवान् क्यों न हो उससे युद्ध नहीं कर सकता। अयोध्या को हम सब जानते हैं— वह अयोध्या, जिसकी महिमा श्री रामचन्द्र जी की जन्म-भूमि होने के कारण हो रही है। इसको संसार का कोई महान से महान बली जीत नहीं सकता था। अयोध्या का नाम यथा नाम तथा गुण था, क्योंकि सांसारिक शक्ति उसको जीत नहीं सकती थी।

वेद-मंत्र में बतलाया है कि जिस आत्मा के अन्दर भगवान् रहते हैं, वह 'अयोध्या' है। शास्त्र बतलाते हैं कि 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' आत्मा को कोई शस्त्र-नाश नहीं कर सकता, तोप, बन्दूक, तलवार, पानी और आग की मार का उस पर कुछ प्रभाव नहीं होता। वह अजर, अमर और

अविनाशी है। अयोध्या के अन्दर तो राजा दशरथ का सिंहासन था, किन्तु हमारे आत्मा के अन्दर उस भगवान का सिंहासन है जिसके आगे दुनिया का चक्रवर्ती राज्य कोई महत्व नहीं रखता। मनु का यह वाक्य बड़ा ही सार्थक प्रतीत होता है कि आत्मा जिस नगरी में निवास करता है उसका नाम 'अयोध्या' है, क्योंकि इसको कोई खण्डित नहीं कर सकता। उपनिषद् ने बतलाया है कि इस नगरी में एक स्वर्ण का कोष है, जिसके चारों ओर हीरे और मोती जड़े हुए हैं। इस कोष में ज्योति है। इस ज्योतिर्मय सिंहासन पर जो पूजनीय ज्योति विराजमान है वही परमात्मा है। परमेश्वर ने नदियों को रचा, हिमालय जैसे महापर्वत को बना कर अपनी महानता का परिचय दिया। परन्तु उसने देखा कि मेरा शान्तिमय रूप, जिसके दर्शन से अशान्त आत्माओं को शांति मिलती है, यदि किसी स्थान पर स्थिर हो सकता है तो वह स्थान हृदय है। तो मैंने बतलाया कि परमात्मा का निवास स्थान आत्मा है और वह अयोध्या है। अब प्रश्न यह है कि हम इसको कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

परमात्मा में देश और काल का भेद नहीं

प्राप्ति के साधन जानने से पूर्व हमें परमात्मा के वास्तविक गुण और लक्षण ज्ञात होने चाहिए। वह श्रीराम, जो एक समय संसार की आँखों में रम रहा था आज हम उस राम को काल की दूरी के कारण देख नहीं सकते। परन्तु वेद बतलाता है कि परमात्मा पर काल का हाथ नहीं है। वह महिमा महान काल के भेद से सर्वथा पृथक् है। यदि वह भी काल की परिधि में आ जाये तो सम्भव नहीं कि वह भी हमारे सदृश्य मृत्यु के बलवान् पंजे से बच सके। ऐसी अवस्था में हममें और उनमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। किन्तु ऐसा नहीं है। यह परमात्मा की पहली महानता है, जो किसी अन्य पदार्थ में नहीं पाई जाती।

इसकी दूसरी महानता यह है कि इसमें देशकृत भेद भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि वह परमात्मा अमेरिका या अफ्रीका में हो या सातवें या छठे आसमान पर हो, जहाँ हम पहुँच नहीं सकते। वेद कहते हैं कि यदि इसमें देशकृत भेद हो तो वह हमारे आत्मा को ज्योति न दे सके।

अब तक बात रह गई और वह यह है कि परमात्मा में ज्ञानकृत दूरी है या नहीं? शास्त्रों का कथन है कि ज्ञानकृत दूरी अवश्य है। जैसे किसी की जेब में पैसे हों और वह यह भूल जाये कि मेरी जेब में पैसे हैं, किन्तु जैसे ही अकस्मात् वह जेब में हाथ डाले और पैसे निकल आवें। यह ज्ञानकृत दूरी है। मैं आपको एक दृष्टान्त देता हूँ, जिससे विदित होगा कि किस प्रकार अविद्या का आवरण हमारे और परमात्मा के मध्य छा जाता है जो हाथों और ध्वनियों से हटाना कठिन हो जाता है।

एक अंग्रेजी का विद्वान जैण्टिलमैन जो हजारों मनुष्यों को अपनी वाणी से प्रसन्न करता है, अवकाश के दिन एक मित्र के मकान पर गया, जहाँ पहले से उसने एक आदमी को निमंत्रण दे रखा था। वहाँ जाकर क्या देखता है कि शराब और कबाब का दौर चल रहा है। वह मन में घबराया तथा अपने मित्र से बोला कि चूँकि मैं धार्मिक सभा में जाने वाला हूँ और यहाँ खाने में आज बड़ी गड़बड़ है, अतः मुझे आज्ञा दो कि मैं जाऊँ। वह मित्र भला कब मानने वाला था! उसने पकड़ कर बैठा लिया और प्रार्थना की कि वह भी मद्य का प्याला पिए। किन्तु उस भद्र-पुरुष ने यह बात न मानी। अन्त में उसके मित्र ने क्रोधित होकर कहा—

खाने-पीने का धर्म से क्या सम्बन्ध है? जिसकी इच्छा हो खाये और मौज उड़ाये और दूसरे यह भी है कि जब तुम यहाँ आ गये तो यह सभ्यता के नियम के विरुद्ध है कि तुम बार-बार 'नहीं' का अनुरोध करो। देखो, एक घूँट पानी में धर्म नहीं डूब जाता। इस उपदेश से वह भद्र पुरुष भी किसी प्रकार हल्का हो जाता है। बस फिर क्या, बलपूर्वक पकड़ कर शराब उसके कण्ठ में ठूँसी जाती है। जब थोड़ी सी शराब कण्ठ से उतर गई तो वह भी समझ लेता है कि धर्म से पतित तो हो गये, थोड़ी क्या और अधिक क्या, एक प्याला और पीता है, नशा चढ़ जाता है और वाही तबाही बोलने लग जाता है।

अब बताओ कि उसकी बुद्धि पर क्या आवरण पड़ा, जिससे सारा उसका ज्ञान दूर हो गया? शराब के नशे ने उसके होश व हवाश को खो दिया। अज्ञान और अविद्या का भी इसी प्रकार नशा है। परन्तु अन्तःकरण

के तत्वों पर इससे भी शक्तिशाली अविद्या का आवरण पड़ता है। लोग कहते हैं कि अमुक मनुष्य की अकल खो गई, अकल खोई नहीं जाती बल्कि उस पर आवरण पड़ जाता है।

मैंने इस दृष्टान्त में आपको यह बताने का यत्न किया है कि अविद्या इस प्रकार की सूक्ष्म वस्तु है जो हाथों से टटोली नहीं जा सकती। जब तक आत्मा पर अज्ञानता का आवरण रहता है परमात्मा हमें दूर प्रतीत होता है, किन्तु जैसे ही यह आवरण उठता है उस भगवान के दर्शन हो जाते हैं। हमें महिमा महान भगवान का सिंहासन दिखाई देने लग जाता है, जो आवरण से ढँका हुआ था।

अज्ञानता के तीन आवरण

आत्मा पर अज्ञान के तीन प्रकार के आवरण पड़ जाते हैं—

(1) आत्म-अज्ञान (2) परमात्म-अज्ञान (3) अनात्म-अज्ञान, अर्थात् अपने स्वरूप से अनभिज्ञता, परमात्मा की सच्चाई से अज्ञानता और प्रकृति की महत्ता से अनभिज्ञता। मेरा आत्मा नाशवान् है, परमात्मा छठे या सातवें आसमान पर विराजमान हैं, जड़-पदार्थ शक्तिशाली हैं— ये अज्ञानता के आवरण हैं। किन्तु इसके विरुद्ध यदि समझा जाये तो यह अज्ञानता, विद्या और ज्ञान में बदल जाती है। सर्वप्रथम यह समझना चाहिए कि मेरा नाश नहीं हो सकता और मुझ में महान शक्ति है। यदि मैं एक तुच्छ बिन्दु हूँ तो समुद्र मेरे साथ है, यदि मैं एक चिंगारी हूँ तो सूर्य की ज्योति जिससे संसार प्रकाशमान हो रहा है मेरे अंग-संग है और किसी में शक्ति नहीं जो इस भट्ठी में से निकाल कर मेरा नाश कर सके। मुझे कोई शक्ति, कोई ताकत और कोई बल इस सूर्य से पृथक् नहीं कर सकता। इसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान कि वह प्रभु हर स्थान मेरे दायें और बायें, नीचे और ऊपर विद्यमान है, वह घट-घट में परिपूर्ण है, एक पत्ता भी उसकी आज्ञा के बिना हिल नहीं सकता। मेरे आत्मा रूप बिन्दु के चहुँ ओर लाखों मीलों का एक समुद्र है, जिसकी ऊपर से नीचे की थाह का पता नहीं लगता। वह हिमालय विशाल है जिसका परमाणु मेरे अन्दर व्याप्त है।

तीसरा अनात्म (प्रकृति) से अपने को पृथक् समझना। प्राकृतिक शरीर के नाश से आत्मा का नाश न मानना और यह जानना कि आत्मा अमर है। मृत्यु का शब्द वस्तुतः हमारे कोष में ही नहीं है, यह तो सांसारिक खेल है। जिस प्रकार जिस बालक का नाम उसकी माता ने यज्ञदत्त रख लिया वह यज्ञदत्त कहलाया, जिसका नाम देवदत्त रखा वह देवदत्त पुकारा गया। परन्तु वही माता यदि उसका नाम कल्याणदत्त रख देती तो वह संसार में कल्याणदत्त हो जाता।

तो मैंने आपको बतलाया कि देवताओं की नगरी अयोध्या है, अनात्मा उससे पृथक् है और परमात्मा उन सब में परिपूर्ण हैं। आत्मा का विवेक ज्ञानी पुरुष को होता है। इस प्रकार जब हम अपनी आत्मा, परमात्मा और प्रकृति को जान लें तो फिर निष्काम कर्म करें, जिसकी महिमा श्री कृष्णचन्द्र जी ने गीता में बताई है। एक दो ज्ञान-योगियों के नाम आपके सामने रखता हूँ, जिन्होंने ज्ञान से अपने जीवन को सफल किया।

इतिहास में ज्ञानयोगी

छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है कि एक दिन सारे ब्राह्मण मिल कर अश्वपति राजा के पास गये और उससे ब्रह्मविद्या के लिए याचना की। जेतलि के पास गौतम ऋषि ने जाकर कहा कि मुझे ब्रह्मज्ञान सिखाओ। उसने उत्तर दिया कि यह विद्या सिर्फ क्षत्रियों के पास थी, किन्तु आज मैं तुमको देता हूँ।

इसी प्रकार राजा जनक के दरबार में बड़े-बड़े ब्राह्मणों ने आकर ब्रह्मविद्या को प्राप्त किया, इनकी पुष्टि श्रीकृष्णजी महाराज करते हैं। गीता में वे कहते हैं— 'हे अर्जुन! यह ज्ञान जो कभी नाश नहीं होता है पहले परमेश्वर ने वैवस्वत मनु को दिया, फिर उसने दूसरे मनु को सिखलाया। इस ज्ञान को राजर्षि लोग ही जानते थे, किन्तु कालचक्र से यह ज्ञान नष्ट हो गया है। चूँकि तू मेरा भक्त है इसलिए मैं तुझको सिखलाता हूँ।' मैंने इन तीन-चार दृष्टान्तों में बतलाया कि ज्ञान सिर्फ राजाओं के पास ही

रहा करता था। अब मैं यह बतला दूँ कि यह ज्ञान केवल राजाओं के पास ही क्यों रहता था।

राजा लोग दिन-रात विद्या और ज्ञान में मग्न रहते हैं, क्योंकि उनको राज्य का कई प्रकार का प्रबन्ध करना होता है। ब्राह्मण उतना दिमाग नहीं लड़ाता जितनी भक्ति करता है, किन्तु राजा ज्ञान की उन्नति में इतना मग्न रहता है जितना कोई और शायद नहीं रह सकता। इसीलिए कहा गया है राजा घोड़े पर दौड़ते हुए भी भक्ति ही करता है। अतः राजा लोग ही अधिक ज्ञानयोगी होते हैं, ज्ञानी का प्रत्येक कर्म पुण्ययुक्त होता है, क्योंकि वह बिना सोचे-समझे कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिससे किसी की हिंसा हो या किसी को दुःख पहुँचे।

इसके सम्बन्ध में जैनी लोगों ने एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया है। इस प्रश्न को हल करने के लिए कि चलने-फिरने से जो हिंसा का अपराध होता है उसका फल क्या है? वे बतलाते हैं कि हमारी प्रत्येक गति परमात्मा की प्राप्ति के लिए है, हमारा चलना-फिरना भी इसी के निमित्त है। इसलिए यदि हमारे इस उद्देश्य की पूर्ति में कोई साधारण हानि भी हो तो हमें इससे कुछ प्रयोजन नहीं। इस बात को एक दृष्टान्त से बतलाया जाता है—

एक मारवाड़ी को जो पानी के एक लोटे से ही अपना शरीर तर कर रहा था, एक महात्मा ने उपदेश दिया कि भूमि खोदकर पानी निकाल ले। उसने उत्तर दिया कि भूमि खोदने से बहुत धूल उड़ेगी। महात्मा ने उपदेश दिया कि भाई! यह सत्य है, परन्तु इतना अधिक पानी निकलेगा जिससे तुम्हारी अगली-पिछली सम्पूर्ण मैल धुल जायेगी। मारवाड़ी ने दो-तीन हाथ भूमि खोदी और बड़ा शीतल जल निकल आया। इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म के लिए कष्ट उठाते हैं, उनको भगवान के विशाल प्रेम के दर्शन होते हैं, हर सत्कर्म में वे प्रभु के दर्शन करते हैं।

एक हिन्दू स्त्री जो सुबह उठकर चक्की पीसती है। (खेद है कि आजकल हिन्दू स्त्रियों में चक्की पीसने का चलन नहीं रहा, इसीलिए उनकी शारीरिक अवस्था दिन-प्रतिदिन दुर्बल हो रही है) वह इतना

अधिक कष्ट अपने लिए नहीं उठाती क्योंकि वह अकेली तो बिना चक्की पीसे भी अपना निर्वाह कर सकती है, किन्तु वह इस प्रकार से अपने सारे परिवार का निर्वाह करती है। यह सेवा भावना से किया हुआ कर्म निष्काम कर्म है।

श्रीकृष्णजी कहते हैं कि चार प्रकार के व्यक्ति हैं जो भगवान का स्मरण करते हैं— (1) वे व्यक्ति जो सुख में तो परमात्मा का नाम तक नहीं लेते किन्तु जब विपद् पड़े तो लम्बी-लम्बी माला फेरते हैं (2) बड़ी ठोकरें खाकर परमात्मा की शरण में आना (3) केवल अपने स्वार्थ के लिए परमात्मा का जप करना, बिना स्वार्थ के कभी उसका नाम न लेना (4) चौथी श्रेणी ज्ञानी पुरुषों की है, वे ही सबसे उत्तम हैं। ज्ञानी परमेश्वर की आत्मा है। परमेश्वर यूं तो सब की रक्षा करते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष चूँकि उसकी आत्मा है इसलिए वह उसके प्रेम का अधिकारी अधिक है, उसने अविद्या के आवरण को उठा दिया है।

मुक्ति क्या वस्तु है ?

अब मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि मुक्ति क्या वस्तु है ? महर्षि दयानन्द के शब्दों में जब आत्मा को परमात्मा का वास्तविक ज्ञान हो जाता है तो उसको सच्चे सुख की प्राप्ति होती है और वह दुःखों के कारागार से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार गंदी नालियाँ समुद्र में जाकर पवित्र हो जाती हैं, जिस प्रकार पृथ्वी की गन्दगी यमुना और गंगा पर सवार होकर समुद्र में जा मिलती है और स्वच्छ हो जाती है, इसी प्रकार मनुष्य का आत्मा, परमात्मा में मिलकर ईर्ष्या और द्वेष से रहित हो जाता है। मलिन आत्मा जब पुरुषार्थ करते हुए परमात्म-प्रेम रूपी सरोवर में गोता लगाता है तो उसकी सारी मैल धुल जाती है, इसी का नाम मुक्ति है।

मुक्ति दो प्रकार की है—(1) जीवन-मुक्ति और (2) विदेह-मुक्ति, अर्थात् मरने के बाद। जीवन-मुक्ति वह है जिससे इस जन्म में ही सुख प्राप्त हो जाये। जिसने इस जन्म मुक्ति का आनंद नहीं चखा वह मर कर क्या मुक्ति पायेगा ? जिसने इस जन्म में सुख नहीं पाया, वह मर कर क्या सुख प्राप्त करेगा ? सुख से पहले दो श्रेणी हैं जो सर्व प्राणियों में पायी

जाती हैं— प्रीति और ज्ञान। सुख तीसरी श्रेणी है। प्रीति, ज्ञान और सुख ये ही तीन वस्तुएँ हैं, जिनकी बलवती जंजीर के साथ यह संसार बँधा हुआ है। संसार में एक छोटी से छोटी चींटी से लेकर बड़े से बड़े पुरुषों में प्रीति का अंकुर विद्यमान है। आपने कई बार देखा होगा, जहाँ एक चींटी को थोड़ी-सी मिठास दिखाई दी, तुरन्त उसने दूसरी चींटी को बतला दिया, दूसरी ने तीसरी को, और इसी प्रकार आन की आन में सैकड़ों चींटियों को पता लग गया। यह क्या कोई कम प्रीति है? फिर वे सभी चींटियाँ सीधी सड़क पर एक दूसरी के पीछे चलेंगी। यह उनका ज्ञान है। प्रीति और ज्ञान के बाद मिठास को पाकर उनको सुख मिलने लगा। इसी प्रकार एक हाथी को देखिए। किस प्रकार पाँच सौ हथिनियों के आगे चीखता और दहाड़ मारता हुआ शेर से सामना करने को जाता है। हाथी में ज्ञान भी विलक्षण है। किसी नदी में ले जाओ, पहले एक पग रखेगा फिर दूसरा। प्रीति और ज्ञान की सीमा को देखने के लिए और आगे बढ़िये, एक जंगली भील पर जब किसी आदमी ने आक्रमण किया हो तो एक चीख से तुरन्त सभी भीलों को एकत्रित कर लेता है और सब उसकी सहायता करते हैं, क्योंकि इनमें भी ज्ञान, प्रीति और सुख की आकांक्षा विद्यमान है। इससे आगे एक विद्वान् सन्यासी की अवस्था को लीजिये, जो प्राणीमात्र से प्रीति करता है। ऋषि दयानन्द की भाँति सम्पूर्ण जगत ही जिसका कुटुम्ब है, जिसको विश्व की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान है। मैंने आपके सामने एक चींटी से लेकर एक धर्मात्मा संन्यासी तक के ज्ञान और प्रीति का वर्णन किया। आपने देखा कि ज्ञान की कितनी कोटि हैं और अभी ज्ञात नहीं कि ज्ञान और प्रीति की कितनी कोटि और हैं।

ऊपर लिखित दृष्टान्तों में आपने देखा कि ज्यों-ज्यों आवरण सूक्ष्म होता जाता है त्यों-त्यों ज्ञान और प्रीति भी बढ़ती जाती है और अन्त में एक समय आता है कि जब ज्ञान और प्रीति का आवरण अत्यन्त सूक्ष्म होकर मनुष्य जीवनमुक्त हो जाता है। विदेहमुक्ति और जीवनमुक्ति में केवल आयु का आवरण है, फिर हम हैं और वे समुद्र जिसके हम बिन्दु थे, फिर हम हैं और वह सूर्य जिसकी हम किरण थे। अविद्या के नाश हो

65

जाने से कर्म अपने आप शुभ हो जाते हैं तथा मन में ईर्ष्या और द्वेष नहीं रहता। अविद्या के कट जाने से सब दोष कट जाते हैं और दोष के कट जाने से दुर्गुण नहीं रहते। इसी तरह जब प्रीति, ज्ञान और सुख पूर्ण हो जाय तब मनुष्य मुक्ति का भागी हो जाता है, फिर वह शक्तिशाली हो जाता है, उसका हृदय विशाल हो जाता है, वह राम के सदृश रावण का सामना करता है, वह कृष्ण की भाँति कंस को रणक्षेत्र में पछाड़ता है। संसार की कोई शक्ति उसकी तुलना नहीं कर सकती। हे भगवान! दया करो कि हम इस अवस्था को प्राप्त हों। प्रभु! कृपा करो कि हम इस अविद्या की शिला को अपने ऊपर से हटाकर दूर फेंक सकें। आपकी कृपा और अनुग्रह के बिना हम इस आवरण को नहीं उठा सकते।

दयामय प्रभु! यही प्रार्थना है, यही याचना है। स्वीकार कीजिये !
स्वीकार कीजिये !! और फिर स्वीकार कीजिये !!!



4

राजयोग

प्रार्थना

हे सर्वाधार ! आप हमारे एकमात्र आश्रय हैं, आपका आशीर्वाद सदैव हमारे साथ रहे। प्रभु ! आपकी परम दयालुता से जीवन में हम जीवन-मुक्त हों और अन्त में सभी सांसारिक बन्धनों को तोड़कर मुक्ति को प्राप्त हों। परमात्मन् ! जिन आत्माओं के सिर पर आपका हाथ रहता है वे सदैव सुखी रहती हैं। इस लोक में उनको कोई दुःख सता नहीं सकता, परलोक के द्वार सदैव उनके लिए खुले रहते हैं। इसलिए हम आपको नमस्कार करते हुए बड़ी श्रद्धा और प्रेम से आपके पास आते और आपकी जय मनाते हैं। परमात्मन् ! संसार में आपकी जय हो, हमारे हृदयों में आपकी जय हो, हमारे कर्म और इन्द्रियों में जय हो जिससे हम लोग आपके दर्शाये हुए नियमों पर चलते हुए कभी भी पीड़ित और दुःखी न हों। हे कृपानिधे प्रभो! दया करो अपने भक्तों पर, ताकि यह तन-मन आपके अर्पण हो। प्रभु ! आशीर्वाद दो कि हमारा जीवन प्राणीमात्र के लिए हितकारक हो, कोई दुःख और क्लेश जीवन-भर हमारे समीप आने न पावे और जीवन के पश्चात् हम अमर हो जावें। इसी याचना और प्रार्थना के पश्चात् हम आपके दरबार में अत्यन्त नम्रता से उपस्थित होते हैं। प्रभो ! स्वीकार कीजिये।

राजयोग क्या है ?

महाराज पतंजलि ने अपने योगशास्त्र में राजयोग की व्याख्या की है। राजयोग का अर्थ ध्यानयोग अर्थात् Will Power अथवा इच्छाशक्ति को बढ़ाना है। ध्यान योग कैसे सफल बनाया जाये ? ध्यान योग के लिए यह अति आवश्यक है कि हमें कोई आध्यात्मिक मार्गदर्शक प्राप्त हो और वह हमारा मार्गदर्शन करे।

‘मंत्र धारणा यों कर, विधि से लेकर नाम।

जपिये निश्चय अचल से, शक्तिधाम श्रीराम॥’

‘यदि किसी अनुभवी मनुष्य द्वारा परमेश्वर का मंगलमय नाम लिया जाय तो उससे अन्तरात्मा जग जाता है। ईश्वर-कृपा तथा अनुभवी सज्जन से ग्रहण किया हुआ नाम ही ध्यान, एकाग्रता, समता और समाधि का साधन बना करता है।’ (श्री भक्ति प्रकाश से)

विधिपूर्वक ध्यान-साधना करने के लिये हमें मंत्र अर्थात् नाम-दीक्षा लेने की आवश्यकता होती है।

हमारे सत्संग में नाम का देना व लेना (नाम-दीक्षा) एक रहस्यवाद है। इस विधि में ‘राम-नाम’ एक जाग्रत चैतन्य मंत्र होता है जो अनुभवी, जाग्रत एवं आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न सज्जन या ज्ञानी या सन्त अथवा सत्गुरु द्वारा अपने आत्मबल से साधक के अन्तःकरण में स्थापित किया जाता है अर्थात् विधिपूर्वक मंत्र का बीजारोपण किया जाता है। इस प्रकार विधिवत् नित्य नियम से साधना करने पर योग का विकास क्रम से होता जायेगा।

महाराज पतंजलि कहते हैं- ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना ही राजयोग अथवा ध्यानयोग है।

किसी का चित्त बुरे कार्यों में जाता है। कान में राग की ध्वनि पड़ते ही कान उस ओर खिंच जाता है। सुन्दर रूप को देखकर आँखों के द्वारा मन में दुश्चिन्तन का प्रवाह बह निकलता है, ऐसे कुकर्मों से मन को रोक लेने से चित्त की वृत्तियाँ रुक जाती हैं। जब देखने वाले की अपने मन में स्थिति हो जाती है तो वह अपने पर अधिकार कर लेता है। जब तक मनुष्य चित्त की वृत्तियों को वश में नहीं करता, वह आपे से बाहर रहता

है, उसके मन में पल-पल के बाद नई से नई तरंगें उठती हैं। जब चित्त की वृत्ति रुक जाती है तो मन के अन्दर परमेश्वर के रूप की स्थिति हो जाती है और उसके बाद महिमा महान भगवान के दर्शन हो जाते हैं। उपनिषद् में बताया गया है कि नित्य प्रति सर्व प्राणी परमात्मा के दरबार में जाते हैं। जिस समय हाथ अपना सभी काम छोड़ देते हैं, पाँव में शक्ति नहीं रहती, आँखें बन्द हो जाती हैं और व्यक्ति सो जाता है, उस समय आत्मा परमात्मा के दरबार में जाता है। सुषुप्ति अवस्था में उस भगवान की महिमा दिखाई देती है। तो मैंने बतलाया कि सांसारिक शक्ति से महान शक्ति हमारे आत्मा के अन्दर विराजमान है। जिसके हृदय के अन्दर परमात्मा विराजमान हों, सर्व ब्रह्माण्ड की शक्ति उसके अन्दर होती है। लेकिन उस महान परमात्मा का अनुभव उसी मनुष्य को हो सकता है जिसने चित्त की वृत्तियों को रोक लिया हो। जिसका मन वश में नहीं, उसको सुखों के केन्द्र परमात्मा का निवास मन में होते हुए भी आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि प्रायः लोग शंका किया करते हैं कि जब परमात्मा आत्मा के अन्दर उपस्थित है तो फिर उसको दुःख क्यों होता है ? उनके लिए तो परमात्मा का होना न होना एक समान है। यह बात आपको इस दृष्टान्त से समझ में आ जायगी।

राम-नियम पहली सीढ़ी है

एक मछली जो सदैव गंगा के पवित्र और शीतल जल में रहती है उसको कभी अनुभव नहीं होता कि जल कैसा शीतल और पवित्र है और न ही जल का निवास मछली के मन में कोई विशेष भाव पैदा करता है, किन्तु जब कोई मनुष्य गंगा में स्नान करता है, तो स्वयमेव उसको भगवान का स्मरण हो जाता है और कहता है अहा ! क्या शीतल जल है! किन्तु मछली चकित होती है कि इसको जल किस प्रकार शीतल और आनन्ददायक प्रतीत होता है!

कथा है कि एक दिन एक फक्कड़ साधु यमुना के किनारे स्नान के लिए गया। जब उसको पानी में गोता लगाने से आनन्द प्राप्त हुआ और आत्मा शान्त हो गया तो वह भगवान की आराधना और जल की स्तुति

करने लगा। जल की एक मछली ने उस पर हँसी उड़ायी। साधु ने मछली को दुम से पकड़कर पानी से बाहर जेठ-अषाढ़ की गर्म धूप में घसीटा। वह तड़पने लगी और छुटकारे के लिए प्रार्थना करने लगी। तब साधु ने उसे जोर से पानी में दे मारा और फिर पूछा कि बता, अब पानी शीतल है या नहीं? मछली ने नम्रता से उत्तर दिया— 'भगवन् ! अब मुझे शीतल जल की महत्ता ज्ञात हुई है। महर्षि पतंजलि जी कहते हैं कि तुम अपने लिए प्राणायाम के द्वारा इस मछली की भाँति धूप में कष्ट उठाओ, तप करो, भोग-विलास को छोड़ दो, फिर तुम्हें अनुभव होगा कि वास्तव में तुम्हारे अन्दर आनन्द का केन्द्र था, जिसको तुम भूले हुए थे। जब अन्तर्ध्यान हो जाओगे, तब तुम्हें उसके दर्शन होंगे और वास्तविक आनन्द प्राप्त होगा। आपने कई बार देखा होगा कि जब कोई पिता समय-समय पर अपने पुत्र की ओर ध्यान लगाता है तो पुत्र की मूर्ति उसकी आँखों के आगे घूमने लग जाती है। इसी प्रकार अगर कोई मनुष्य सारा दिन अपने मित्र का स्मरण करता रहे तो रात को स्वप्न में उसका दर्शन दृष्टिगोचर होगा। यही हाल भगवान के स्मरण का है। जो भक्तजन प्रभु के स्मरण में अपने मन को एकाग्र करते हैं, उनका हृदय गद्गद्, प्रसन्न रहता है, उनके मन में भगवान की ज्योति का विकास होता है, संसार में उनकी महानता और विशेषता का यश फैलता है। इसी प्रकार मन को एक ओर लगाने का नाम 'धारणा' है। मैंने बतलाया कि जो लोग चाहते हैं कि उनकी इच्छाशक्ति या Will Power बढ़ जाय, उन्हें सबसे पहले यम-नियम का पालन करना चाहिए।'

आहार-व्यवहार आवश्यक है

यम-नियम का पालन करते हुए आहार-व्यवहार का ध्यान रखना आवश्यक है। यह विचार कि खाने, पीने, उठने, बैठने और अन्य इसी प्रकार की बातों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं, मूर्खता है। खाने-पीने का आरोग्यता के साथ बड़ा सम्बन्ध है। वह मनुष्य जो पाव भर प्रतिदिन खाता है, एक दिन नियम-विरुद्ध एक सेर खा लेवे, बताइये कि उसका पेट फटेगा या नहीं? वह धर्म-कर्म क्या कर सकेगा? इसलिए हमारा

आहार-व्यवहार नियम से होना चाहिए। सोने-जागने का ठीक नियम हो, हमारा चलना-फिरना और बोलना आदि सभी बातें ऐसी नियमबद्ध और उत्तम हों जिनको देखकर प्रत्येक पुरुष के मन में उनके अनुकरण की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो।

मन की तीन अवस्थाओं पर नियंत्रण

मन की तीन अवस्थाएँ हैं- जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीन अवस्थाओं पर नियंत्रण पा लेने के पश्चात् मनुष्य राजयोग को प्राप्त कर सकता है। लेकिन पिछली दो अवस्थाओं पर कोई मनुष्य नियंत्रण नहीं पा सकता, जब तक कि जाग्रत अवस्था की सभी क्रियाओं को अपने वश में न कर ले। जाग्रत अवस्था में जिस मनुष्य का मुँह और जिह्वा उसके अधीन नहीं, जिसका मन क्षण-क्षण में छलाँगें मारता है, क्या आप विचार कर सकते हैं कि उसको गहरी नींद आयेगी? उसको सोने पर भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सोते हुए उसको नाना प्रकार के भयानक स्वप्न आते रहते हैं। तो शास्त्र बतलाते हैं कि पहले हम जाग्रत अवस्था में अपने मन को वश में करें। इसके बाद स्वप्न की दशा शनैःशनैः स्वयं हमारे वश में होती जायेगी और हमें ऐसी गहरी निद्रा प्राप्त होगी, जिसमें सुषुप्ति-अवस्था भी ठीक हो जायेगी। जब हमने मन की तीनों अवस्थाओं को अपने वश में कर लिया फिर भगवान के दर्शन कुछ कठिन नहीं रहते।

आपने देखा होगा कि चित्रकार लोग पहले अपने बच्चों को खेलकूद में चित्र बनाना सिखलाते हैं, जिनसे उनकी रुचि चित्र बनाने की ओर हो जाती है। धीरे-धीरे एक दिन ऐसा आता है कि वह बड़ा होकर उच्च कोटि का चित्रकार बन जाता है। इसी प्रकार हम सबसे पहले छोटी-छोटी बातें खानपान आदि में नियमों का पालन करना सीखें। जब शरीर पर हमारा नियंत्रण हो जायेगा तो हम राजयोग के अधिकारी हो जायेंगे।

आसन जमाना

यम-नियम का सेवन करने के पश्चात् फिर आसन लगाना सीखें। आसन सामान्यतया साधारण और छोटी सी बात समझी जाती है, किन्तु साधारण और छोटी-छोटी बातों के न होने से ही मनुष्य असभ्य माना

जाता है और सभ्य समाज में बैठने के योग्य नहीं रहता। मैंने कई व्यक्तियों को देखा है कि जब वे ध्यान करने बैठते हैं तो कभी सिर खुजलाते, कभी शरीर पर हाथ फेरते और कभी मक्खियाँ उड़ाते हैं। ऐसे लोगों को आसन जमाना नहीं आता। जो मनुष्य आसन नहीं जमा सकता, वह मन क्या एकाग्र करेगा? इसलिए धरती पर ऐसा आसन जमाओ, मानो एक कीला गड़ा हुआ है। तुम जब ध्यान कर रहे हो तो तुम्हारे शरीर पर पसीना है किन्तु तुम्हें भान नहीं होना चाहिए। निःसन्देह आसन जमाने में पहले तुम्हें अवश्य कष्ट होगा, चंचल मन तुम्हारे बैठने में बाधा डालेगा, किन्तु जब तुम अभ्यस्त हो गये तो फिर किसी प्रकार का कष्ट न रहेगा। पहले थोड़ी देर बैठो फिर धीरे-धीरे अपनी बैठक बढ़ाते जाओ।

प्राणायाम

आसन के पश्चात् प्राणायाम का क्रम आता है। प्राणायाम को प्रायः लोगों ने बड़ा ही भयानक और काला नाग बना रखा है और सर्वसाधारण में प्रसिद्ध है कि प्राणायाम से कई व्यक्ति मर गये हैं, अतः इसको नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार सर्वसाधारण को भूत-प्रेत का काल्पनिक भय है, इसी प्रकार प्राणायाम का भय भी सर्वथा काल्पनिक है किन्तु शास्त्रकारों ने प्राणायाम को बड़ा ही उपयोगी बतलाया है। अब तो एक सिर से लेकर दूसरे सिर तक यूरोपियन और अन्य तत्ववेत्ता भी इसके लाभों को मान रहे हैं। प्राणायाम करने से न केवल आत्मिक रोगों का ही नाश होता है, प्रत्युत् इसके अभ्यास से शारीरिक रोग भी जड़ से उखड़ जाते हैं और रक्त पवित्र हो जाता है और किसी प्रकार की व्याधि समीप नहीं आने पाती। प्राणायाम की विधि जैसी कि मनु ने बतलाई है, आप कई बार सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों में और महात्मा पुरुषों से पढ़ और सुन चुके हैं। मुझे इसके विषय में कहने की अधिक आवश्यकता नहीं। ऋषि बतलाते हैं कि जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि में डालने से शुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार प्राणायाम-रूपी भट्ठी से मनुष्य का आत्मा शुद्ध और निर्मल हो जाता है। आप परीक्षा के लिए प्राणायाम करके देखें, आपको चन्द ही दिनों में विदित होगा कि आपकी इच्छाशक्ति बढ़ रही है, आपकी

आकृति तेजोमय और आत्मा बलवान् हो रहा है। आपके मित्र आप से याचना करेंगे कि हमारी सभा में बैठकर सभा की शोभा को बढ़ायें। ईर्ष्या और द्वेष आपके मन से दूर हो जायेगा और चित्त हर समय प्रफुल्लित रहेगा। प्राणायाम से व्यक्ति का चोला सूक्ष्म हो जाता है, उसके विचार पवित्र हो जाते हैं, और आत्मा हर समय शान्त रहता है। अमेरिका का एक पुस्तक रचयिता डारविन के उपकार का चिन्तन करता हुआ अपनी पुस्तक में लिखता है कि डारविन से भी बढ़कर भारतीय साधुओं ने अमेरिका पर उपकार किया है, जिन्होंने अमेरिका-निवासियों को प्राणायाम की विधि सिखलाई है और जिससे आने वाली सन्तानें भारतवासी साधुओं को स्मरण करेंगी।

धारणा

प्राणायाम के पश्चात् धारणा है जिसको महर्षि पतंजलि ने अपने योगशास्त्र में बड़े स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है अर्थात् किसी वस्तु की ओर मन को लगाना 'धारणा' है। मन एक ही प्रकार से पूर्णतः वश में रह सकता है कि जब मन किसी दूसरी ओर जाने लगे तो उसे कह दिया जाय कि कहाँ जाता है। मैंने प्रार्थना की है कि धारणा-शक्ति पैदा हो जाने के पश्चात् ध्यान लगावें। ध्यान किसका लगावें? इस पर आजकल बड़ा विवाद हो रहा है, प्रायः लोग कहते हैं कि मूर्ति के बिना ध्यान नहीं लग सकता, किन्तु योगशास्त्र में बतलाया है कि परमात्मा के नाम का ध्यान करना चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् भी इस विचार का मण्डन करता है और नाम से ही जगत के अधिकांश व्यापार चल रहे हैं।

ध्यान किस प्रकार करना चाहिए ?

ध्यान करने की कई विधियाँ हैं। एकान्त में बैठकर मन से उसका उच्चारण करें, श्वास से उसका उच्चारण करें, रामनाम का जाप करें। इसका जाप प्राणायाम के साथ-साथ करना अच्छा है। यदि कोई साधक नाम का जाप इस प्रकार भी करना चाहे वह चिन्तन करके अपना ध्यान उस महिमा महान भगवान की ओर लगा सकता है। इसी प्रकार क्रमशः

73

चलते हुए हम अपने निश्चित स्थान पर पहुँच सकते हैं और सनत्कुमार के इस वाक्य को सार्थक कर सकते हैं कि 'जो करता है वह सुख पाता है।' इस प्रकार जो नाम का जप करते हैं उन्हें अवश्य ही सफलता प्राप्त होती है और एक समय आता है जब उनको भगवान के साक्षात् दर्शन प्राप्त होते हैं। परमेश्वर हमें बल और शक्ति दें जिससे हम अपनी आत्मिक यात्रा को समाप्त करके उस भगवान के दर्शन कर सकें। बस, यही याचना है और प्रार्थना है, स्वीकार कीजिये।



परमात्म-मिलन

सकल सृष्टि के कर्त्ता परमात्मा से प्रार्थना है कि हे प्रभु! हमारे पापों को आप हमसे दूर कीजिये ताकि मलिन मन शुद्ध होवे, आप हमारे हृदय को शुद्ध कीजिए क्योंकि इसमें भी मलिनता है, आप हमें पापों से दूर कीजिए, ये पाप हमें कर्मक्षेत्र में न सता सकें, ये पाप हमें डांवाडोल न करें, जिससे हमारा मन डगमगा न सके।

तीन प्रकार का बल

सभ्यगण! यदि धर्म की दृढ़ता देखना चाहो तो उसको ईश्वर-पूजा और यज्ञ में देखो। जितनी शोभा इन दो वस्तुओं से होती है, उतनी और किसी वस्तु से नहीं हो सकती। ईश्वर-पूजा क्या है और कैसे हो सकती है? इसको मैं आज आपके सामने वर्णन करूँगा और बतलाऊँगा कि किन साधनों से परमात्मा का दर्शन हो सकता है? आप कहेंगे कि मन से, क्योंकि वेद में मन की बहुत स्तुति की गई है। परन्तु मन के द्वारा ईश्वर की उपासना में हम कृतकृत्य नहीं हो सकते, जब तक कि पहले पूर्णतया इसको अपने वश में न कर लें। फिर आप उत्तर देंगे कि यदि मन से ईश्वर की उपासना नहीं हो सकती, तो कर्म से हो सकती है। किन्तु अनियमित कर्मों से भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि जब तक कर्म-इन्द्रियाँ वश में न होंगी, कर्म भी स्वेच्छापूर्वक नहीं हो सकेंगे। तो प्रभु के दर्शन किस प्रकार हो सकते हैं, यह आपका योग्य प्रश्न होगा। इस प्रश्न का उत्तर प्रतिदिन आपको दृष्टिगोचर होता है किन्तु आप इस पर ध्यान नहीं देते। क्या आप नहीं देखते कि साधारण मल्लयुद्ध लड़ने के

लिए मल्ल को क्या-क्या ढंग बर्तने पड़ते हैं ? साधारण पुरुष यदि किसी मल्ल के साथ मल्ल-युद्ध (कुश्ती) करने का साहस करेगा तो प्रथम तो मैदान (अखाड़े) में अपने प्रतिद्वन्दी का डील-डौल देखकर ही उसका उत्साह भंग हो जाएगा, किन्तु यदि साहस कर भी ले, तो दो चार हाथ मारने पर उसकी भुजाएँ फूल जाएँगी, अंगुलियाँ पिस जाएँगी। इसकी वाणी के बल से निर्बल पुरुष का हृदय काँप जाएगा और यदि इसने थोड़ी भी निर्दयता से हाथ चला दिया तो निर्बल मनुष्य चकनाचूर हो जावेगा। परन्तु यदि दोनों समान बल के हों तो इस दुर्वशा की सम्भावना नहीं हो सकती। अतएव किसी क्षेत्र में मल्ल-युद्ध करने से पूर्व मल्ल-लोग अपने शारीरिक बल को बढ़ाया करते हैं, शारीरिक बल के साथ-साथ वाणी का बल बढ़ता जाता है और उनमें चिंघाड़ (गम्भीर गर्जना) उत्पन्न हो जाती है। यह शारीरिक बल-सम्पादन साधना का प्रथम सोपान है।

निःसन्देह आरम्भ में इस कार्य के करने में किंचित् कठिनाई प्रतीत होती है किन्तु कुछ काल पीछे ऐसा आनन्द होगा कि फिर मन तृप्त नहीं होगा और मन चाहेगा कि कुछ देर समाधि-अवस्था में रहें। तो सबसे पहले ईश्वर-पूजा के लिए शरीर दृढ़ करने की आवश्यकता है और किसी काम में भी सफलता प्राप्त न होगी, जब तक कि शरीर दृढ़ न होगा और कार्य नियमबद्ध न किया जावेगा।

ध्यान में आनन्द किस प्रकार आ सकता है ?

प्रायः लोग कहते हैं कि हम वर्षों से नियमपूर्वक ध्यान करते हैं परन्तु हमें आनन्द नहीं आता। उनका यह कहना तो वास्तव में ठीक है किन्तु वस्तुतः उन्होंने ध्यान के महत्व को समझकर नियमपूर्वक ध्यान कभी नहीं किया। यदि करते तो अवश्य आनन्द आता। यह हो नहीं सकता कि प्रभु के दर्शन की सच्चे मन से अभिलाषा की जाये और उसका दर्शन न हो। शास्त्रों में बतलाया है कि यदि निम्नलिखित नियमों का पालन करते हुए ध्यान का अभ्यास करेंगे तो ध्यान में अवश्य आनन्द प्राप्त होगा—

(1) नियम से नियत समय पर ध्यान करना चाहिए।

- (2) मन को एकाग्र करके ध्यान करना चाहिए ताकि वह अस्त-व्यस्त होकर किसी अन्य ओर न जाए।
- (3) जितना समय पहले दिन ध्यान में व्यय किया है उससे न्यून कदापि न हो, प्रत्युत् प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते जायें।
- (4) ध्यान एक निश्चित स्थान पर होना चाहिए, यह नहीं कि कभी चारपाई पर बैठ गए, कभी कुर्सी पर बैठकर ही कर लिया, प्रत्युत् प्रतिदिन जहाँ बैठा करते हो, उसी स्थान पर करना चाहिए। आपको प्रतिदिन का परीक्षण होगा कि जहाँ बैठकर आप प्रतिदिन पठन-पाठन का काम करते हैं उस कमरे में पंग रखते ही आपके मस्तिष्क में पठन-पाठन का विचार आ जाता है। इसी प्रकार व्यापारी जिस गद्दी पर बैठकर प्रतिदिन व्यापार करते हैं, वहाँ बैठते ही अपने लेन-देन के सर्व विचार स्मरण आ जाते हैं। परन्तु हम साधकों ने भगवान की पूजा के गौरव को नहीं समझा, पूजा के स्थान की महानता का अनुभव नहीं किया। पूजा का स्थान शुद्ध, पवित्र और पृथक् होना चाहिए, जहाँ जाते ही परमात्मा की भक्ति के विचार मनरूपी मंदिर में लहरें मारने लग जाँँ।

तो मैंने बतलाया कि ध्यान एक ही स्थान पर हो, जो शुद्ध और पवित्र होना चाहिए और निश्चित समय पर ध्यान के लिए हमें उद्यत हो जाना चाहिए, जिस प्रकार, जो मनुष्य रात के दस बजे सोते हैं उन्हें दस बजते ही नींद आ जाती है, इसी प्रकार यदि हम ध्यान का एक समय निश्चित करेंगे तो हमें प्रतिदिन उसी समय ध्यान के विचार आएँगे।

इस प्रारम्भिक कथन के अतिरिक्त जो कि ध्यान के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जब साधक ध्यान में बैठे तो फिर वाणी से परमात्मा की भक्ति करे और कहे कि हे प्रभु ! तेरा भरोसा ही मुझे कल्याण और मंगल देने वाला है। आपकी दया ही मेरा जीवन और आपकी अकृपा ही मेरी मृत्यु है। हम बड़ी मीठी वाणी से उस प्रभु के स्रोत पढ़ें, मधुर वाणी से उस मंगलमय भगवान के भजनों से कीर्तन करें, ये ही हमारे कल्याण के

साधन होंगे। जिस प्रकार किसी दानी पुरुष के द्वार से कोई भिक्षुक निराश नहीं जाता, इसी प्रकार से यह कैसे हो सकता है कि उन दानियों के दानी के द्वार से, जिससे प्रतिदिन हम याचना करेंगे, खाली लौटकर आएँ। वह अवश्य हम भिक्षुकों को अपनी दया की भिक्षा देंगे, जिसके साथ होते हुए हमें किसी सांसारिक वैभव की आवश्यकता न रहेगी।

वाणी की स्तुति से दूसरा लाभ यह होगा कि हम कृतघ्नता के दोष से मुक्त हो जायेंगे। और यह भी एक साधारण नियम है कि जिसका हम प्रतिदिन स्मरण करें, उसके मन में हमारे लिए प्रेम उत्पन्न हो जाता है और हमारे मन में उसके प्रति प्रीति-भाव फूट-फूट कर दिखाई देता है। परमात्मा के स्मरण से भी हमें प्रभु से अगाध प्रेम होगा और उसकी ओर से हम पर दया की वृष्टि होगी। जिन पुरुषों का ईश्वर से प्रेम हो जाता है सांसारिक पदार्थ उनकी दृष्टि में तुच्छ प्रतीत होते हैं। एक समय की बात है कि जंगल में महात्मा बुद्ध संध्या कर रहे थे। उसी जंगल में कोई लुटेरा किसी मनुष्य के वस्त्र उठा कर ले गया। वस्त्रों वाला लुटेरे की खोज कर रहा था कि उसे महात्मा बुद्ध दिखाई दिये। उसके द्वारा चोर का पता पूछने पर महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया कि ऐ नवयुवक ! तुम कपड़ों की चिन्ता में भटक रहे हो, परन्तु तुम्हें आत्मिक धन की चिन्ता नहीं जो प्रतिदिन लुटा जा रहा है। तुम मुझ से आत्मिक धन के डाकुओं का पता पूछो।

वास्तव में अवस्था भी यही है, जब तक मनुष्य को धन से प्यार नहीं होता वह उसको बचाने की चेष्टा नहीं करता। इसी प्रकार जिस मनुष्य को अपने अन्तःकरण से प्रेम नहीं वह आत्मा की रक्षा नहीं करता, ऐसे ही जिस पुरुष को परमात्मा के प्राप्त करने के लिए कोई आकर्षण नहीं है, वह उसके दर्शन नहीं कर सकता। बस प्रीति ही मिलाप का साधन है, इसलिए वाणी द्वारा स्तुति-गान कर परमात्मा से प्रीति करनी चाहिए।

वाचक कर्म में बड़ी महान शक्ति है, इसकी तुलना में सांसारिक सब शक्तियाँ परास्त हैं। वाणी के द्वारा हम अनन्त परमात्मा को अपने शान्त मन के मंदिर में ला सकते हैं। वाणी ही एक प्रबल शक्ति है, जिसके द्वारा

हम गंगा की अथाह लहरों को अपने मन में आविष्ट कर सकते हैं कि ऐ गंगा की लहरो ! मेरे मन को शान्त करो।

वाणी द्वारा भक्ति के पश्चात्, मानसिक भक्ति और शक्ति बढ़ाने का समय आता है। मन को वश करना साधारण पुरुषों में बहुत कठिन माना जाता है किन्तु यह इतना कठिन नहीं जितना कि प्रसिद्ध है। मन को वश में करना अत्यन्त ही दुष्कर उन लोगों के लिए है जो यह सोचते रहते हैं कि हमें क्या करना चाहिए ? 'चाहिए' की सीमा में सर्व संसारी पदार्थ आ जाते हैं। 'चाहिए' असीम है अतः मनुष्य की अल्प शक्तियाँ 'चाहिए' इस असीम लक्ष्य को नहीं पहुँच सकती हैं, अतएव हमें यह सोचना चाहिए कि मैं क्या कर सकता हूँ ? अगर एक गृहस्थी ने वेद को अपना लक्ष्य रखा है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह पहले आर्य-भाषा को पढ़े और फिर क्रमशः संस्कृत पढ़कर वेद तक पहुँच जावे।

मन को वश में करने की विधि

मन किस प्रकार वश में आ सकता है ? पतंजलि ऋषि मन को वश में करने का यह साधन बतलाते हैं—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् योग के द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करो, इन्द्रियों को पूर्णतया हम कुचल नहीं सकते, निःसन्देह क्रमशः अपने वश में कर सकते हैं। किसी मनुष्य को यदि एक बड़ी भारी पुस्तक का अवलोकन करना हो तो उसके लिए आवश्यक है कि वह पहले दिन तीन पृष्ठ पढ़े और फिर धीरे-धीरे बढ़ाता जाए। यही हाल एक ऐसे रागी का है जिसको तानसेन बनना हो। उसके लिए आवश्यक है कि वह नियमपूर्वक राग का अभ्यास करे। कई पुरुष एक-दो घंटा ध्यान लगाते हैं किन्तु उनका मन नहीं लगता क्योंकि वे ऊपर लिखित नियमों का पालन नहीं करते हैं। कई लोग हठ के कारण भी अपना समय नष्ट करते हैं। जब किसी साधक का ध्यान में मन न लगे तो उसे छोड़ देना चाहिए, फिर जब मन एकाग्र हो जावे तो बैठना चाहिए। क्या आप संसार में नहीं देखते कि प्रेम के वश होकर बड़े-बड़े भयानक पक्षी वश में आ जाते हैं। प्रेम की दृढ़ श्रृंखला में एक निर्धन एक महाराजाधिराज को वश में कर

सकता है किन्तु क्रूरता और बलात्कार से कोई काम नहीं निकल सकता। क्रूरता और बलात्कार से ही संसार में घोर संग्राम होते हैं। अतः हमें अपने मन को प्रेम से वश में करना चाहिए ताकि वह विवश न हो सके। मन को वश में करने के लिए प्राणायाम को हमारे शास्त्रों में अमृत औषधि बताया है। प्राणायाम की विधि आपने कई बार सुनी होगी। पहले धीरे-धीरे श्वांस को अन्दर ले जावें और रोक रखें फिर धीरे से बाहर निकालें और कुछ देर तक बाहर ही रोक दें।

रोशनआरा नामक एक विदुषी स्त्री प्राणायाम को अपनी बहिनों के लिए अमृत औषधि बतलाती है। जिन व्यक्तियों को आत्मविद्या से परिचय न हो वे प्राणायाम से अपनी छाती को चौड़ा कर सकते हैं, पुट्टों और फेफड़ों को दृढ़ कर सकते हैं। प्राणायाम से रक्त पवित्र और मुख कान्तिमय होता है।

जब हम प्राणायाम से अपने मन को वश में कर लेंगे, तो इसके साथ हमारी मित्रता हो जाएगी, फिर इसको जिस ओर हम लगाना चाहेंगे, लग जाएगा। अब यह प्रश्न होता है कि हम अपने मन को किस ओर लगाएँ? वह चंचल मन जो पहले किसी ओर लग नहीं सकता था, अब सुधर गया है। अब वह भगवान के राम-नाम पर लग सकता है, इस मन को हम अपने आज्ञा-चक्र पर लगा सकते हैं। किन्तु मन को उसकी वृत्तियों के साथ एक ही श्वांस पर लगाना चाहिए। भिन्न-भिन्न लक्ष्यों पर लगाने से शक्ति व्यर्थ हो जाती है, एक ही लक्ष्य पर लगाने से शक्ति बढ़ती है। जिस प्रकार एक चौड़े शीशे पर सूर्य की किरणें बड़ी तेजी के साथ नहीं पड़ सकतीं और उनसे कोई काम नहीं चल सकता, क्योंकि किरणें बिखरी हुई हैं, किन्तु यदि मोटे शीशे को सूर्य के सामने रखें तो उन किरणों की तीक्ष्णता से हम रोटी पका सकते हैं, कपड़े जला सकते हैं। इसी प्रकार मन की बिखरी हुई शक्तियों से हम कोई कार्य नहीं ले सकते, किन्तु यदि मन एकाग्र हो तो सर्व कार्यों में सफलता प्राप्त हो सकती है।

80

अन्त में, एक दृष्टान्त सुनाकर मैं अपनी वक्तृता को समाप्त करूँगा—
एक बार हस्तिनापुर में कौरवों और पांडवों का क्रीड़ायुद्ध (टूर्नामेन्ट) था। उनके अध्यापक द्रोणाचार्य ने अपने सर्व शिष्यों को एकत्र करके कहा कि अमुक ऊँचे वृक्ष पर जो उल्लू बैठा है, उसकी आँख को लक्ष्य करना है, प्रत्येक को इस लक्ष्य का अवसर दिया जाएगा। अल्प समय के पश्चात् द्रोणाचार्य ने प्रत्येक से पूछा कि बतलाओ तुम्हारी आँखों के सामने क्या फिर रहा है ? किसी ने बतलाया कि मैं अपने सामने क्रीड़ा-स्थान देख रहा हूँ, किसी ने उत्तर दिया, मेरी दृष्टि के सामने इस वृक्ष की वह शाखाएँ हैं जिनमें से तीर निकल कर उल्लू की आँख में लगेगा, किन्तु द्रोणाचार्य के होनहार शिष्य अर्जुन ने प्रार्थना की कि महाराज मैं इस समय अपने लक्ष्य उल्लू की आँख को देख रहा हूँ, मेरी टकटकी उसकी आँख की पुतली की ओर है और आज्ञा की प्रतीक्षा में हूँ कि आप आज्ञा करें और मैं इसको लक्ष्य बनाऊँ। द्रोणाचार्य ने अर्जुन को प्यार किया और कहा कि पुत्र ये सब अनुत्तीर्ण रहेंगे और निश्चित है कि तू ही उत्तीर्ण होगा और ऐसा ही हुआ।

यही दशा भगवान की पूजा की है। जब हम शरीर, वाणी और कर्म द्वारा मन को पूर्ण एकाग्र करके प्रभु-दर्शन की चेष्टा करेंगे, तभी हमें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त होगी।



ग्रन्थ सूची

१. भक्ति प्रकाश
२. वाल्मीकीय रामायणसार
३. श्रीमद्भगवद्गीता
४. एकादशोपनिषद् संग्रह
५. प्रवचन पीयूष
६. प्रार्थना और उसका प्रभाव
७. उपासक का आन्तरिक जीवन
८. भक्ति और भक्त के लक्षण
९. स्थितप्रज्ञ के लक्षण
१०. भजन एवं ध्वनि संग्रह
११. अमृतवाणी
१२. अमृतवाणी व्याख्या
(हिन्दी, अंग्रेज़ी, कन्नड, मलयालम, तेलुगू, तामिल)
१३. सुन्दरकाण्ड
१४. रामायण पर ऐतिहासिक दृष्टि

प्राप्ति स्थान :

श्रीरामशरणम्, ८ए, रिंग रोड, लाजपत नगर-४
नई दिल्ली-११००२४

web.site-shreeramsharnam.org

E-mail address: shreeramsharnam@hotmail.com